शिवाजी न. भावे
अखिल भारत सर्व सेवा संघ प्रकाशन

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

[मूल मराठी का हिन्दी अनुवाद]

●

शिवाजी न० भावे

प्रस्तावना
धीरेन्द्र मजूमदार

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक
अ० वा० सहस्रबुध्दे
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ
वर्धा, (म० प्र०)

दूसरी बार २०,०००
कुल प्रतियाँ २५,०००
अगस्त १९५५
मूल्य : चार आना

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

लेखक के दो शब्द

पूज्य विनोबाजी के लेखों, भाषणों आदि के द्वारा समय-समय पर 'श्रम-दान' पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। फिर भी यहाँ पथ-प्रदर्शक रूप में श्रमदानसम्बन्धी विचार संक्षेप में उपस्थित किया गया है। वह पूर्ण न हो तो भी आचार-दृष्टि से कम नहीं है।

सामाजिक क्रान्ति का यह विचार जितना ही व्यापक होकर गहराई में पहुँचेगा—मूलग्राही होगा, उतना कम ही है। कारण इस देश में प्रतिष्ठित माने जानेवाले लोग श्रम नहीं करते। यहाँ श्रम की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। श्रम करनेवालों को तुच्छ गिना जाता है। जो श्रम करते भी हैं, वे लाचारीवश करते हैं और श्रमशून्य जीवन की ही इच्छा रखते हैं।

इस वस्तुस्थिति को पहचानना पहली बड़ी मानसिक क्रान्ति है और इसके बाद श्रम-दान से सारे समाज में प्रत्यक्ष क्रान्ति—इस तरह यहाँ द्विविध क्रान्ति होनेवाली है।

महादेव-मन्दिर,
धूलिया (प० खानदेश)
२०-९-'५४

—शिवाजी न० भावे

प्रस्तावना

गांधीजी की पुण्य-तिथि के अवसर पर सूतांजलि की परिपाटी चलाकर सन्त विनोबा ने अखिल भारतीय पैमाने पर देश में श्रमदान-आन्दोलन का श्रीगणेश किया। तब से श्रमदान की चर्चा फैलती गयी और आज देश में व्यापक रूप से श्रमदान का आयोजन हो रहा है। संसार में सबसे प्रचण्ड नदी कोशी बाँधने के प्रयास में श्रमदान के महत्त्व को देश ने अच्छी तरह समझा। केवल कोशी बाँधने के ही काम में श्रमदान का संघटन व्यापक रूप से हुआ, ऐसी बात नहीं; बल्कि विभिन्न प्रदेशों में अनेक प्रकार की योजनाएँ श्रमदान के आधार पर बन रही हैं। ऐसे अवसर पर श्री शिवाजी भावे ने श्रमदान पर जो विवेचन किया है, वह सामयिक है।

वस्तुतः सर्वोदय-समाज की बुनियाद श्रम है। यही कारण है कि विनोबाजी ने सूतांजलि के एक गुण्डी सूत को सर्वोदय का एक वोट माना है। अगर सर्वोदय-समाज का ध्येय शासन-मुक्त समाज है तो ऐसे समाज का निर्माण पूँजी-मुक्ति के बिना हो नहीं सकता। अतः यह आवश्यक है कि सर्वोदय-समाज का सारा काम पूँजी-आधारित न होकर श्रम-आधारित हो।

स्पष्ट है कि शासन-मुक्त समाज कोई उच्छृंखल समाज नहीं होगा। वह व्यवस्थित समाज ही होगा। व्यवस्थित समाज में अगर शासन का निराकरण करना है तो वैसा समाज संचालित न होकर, सहकारी होगा। अब प्रश्न है कि सहकार किस बात का

और किनके बीच हो। मनुष्य और मनुष्य के बीच में सहकार प्रत्यक्ष ही हो सकता है, अप्रत्यक्ष नहीं। प्रत्यक्ष सहकार श्रम के लेन-देन के द्वारा ही हो सकता है, दूसरे तरीके से नहीं। अतः सहकारी समाज में मुख्य सम्पत्ति श्रम की होगी और सामूहिक सम्पत्ति श्रमदान से ही बटोरी जा सकेगी।

दूसरी बात यह है कि सहकार समान स्तर के ही व्यक्तियों के बीच हो सकता है। असमानता से सहकार सम्भव नहीं। इसलिए यह आवश्यक है कि सर्वोदय-समाज में समाज के सभी मनुष्यों का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा बौद्धिक स्तर करीब-करीब समान हो। यह तभी हो सकता है, जब हरएक मनुष्य उत्पादन के काम में लगा रहे और उसीके साथ-साथ सांस्कृतिक तथा बौद्धिक विकास करता रहे। हरएक मनुष्य उत्पादक श्रमिक बने और जीवन-मान ऊपर उठे, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए श्रम शक्ति का समझदारी से विकास करना होगा। यह तभी सम्भव है, जब मनुष्य की प्रेरणा सतत श्रम की ओर ही हो।

अब प्रश्न यह है कि ऐसी प्रेरणा मिले कैसे? हर आदमी समाज में कुछ-न-कुछ प्रतिष्ठा चाहता है। समाज में जिस वस्तु की प्रतिष्ठा होगी, लोगों की आंकाक्षा उसीको प्राप्त करने की होगी। आज हर व्यक्ति श्रम-विमुख है। जिन लोगों की तकदीर में निरन्तर श्रम करना ही लिखा है, वे भी श्रम-विमुख हैं। वे अगर श्रम करते हैं तो मजबूरी के कारण, न कि उसके प्रति किसी आकर्षण के कारण। ऐसा इसलिए है कि समाज श्रम को हेय दृष्टि से देखता है। स्मृतियों और पुराणों में शूद्र वर्ग को ब्रह्म के चरण से उद्भूत माना है। अर्थात् उसे अधम ही माना गया है।

ऐसे युग में श्रम की प्रतिष्ठा कैसे हो, यह मुख्य विचारणीय प्रश्न है।

श्रम-प्रतिष्ठा के अधिष्ठान के लिए यह आवश्यक है कि देश में एक महायज्ञ का सम्पादन हो। यज्ञ में आहुति की आवश्यकता है। श्रम-यज्ञ का यदि अनुष्ठान करना है तो उसके लिए आहुति भी श्रम की ही होनी चाहिए। यही कारण है कि वर्तमान युग का महायज्ञ श्रमदान-यज्ञ ही माना गया है।

सवाल यह है कि समाज के सारे कार्यक्रम में श्रमदान-यज्ञ का आयोजन हो कैसे तथा उसका स्वरूप और क्रम क्या हो? वैसे तो बापूजी तथा विनोबाजी ने देश के समक्ष अनेक प्रकार के श्रमयज्ञों के उदाहरण रखे हैं और प्रस्तुत पुस्तिका में श्री शिवाजी। ने भी "श्रमदान के प्रकार और विषय" शीर्षक के अन्तर्गत इस पर कुछ प्रकाश डाला है। किन्तु जब आज का जमाना सारे समाज का इस ओर आवाहन करता है, तो हमें इसकी अधिक व्यापक तथा संयोजित परिकल्पना करनी होगी, और यह परिकल्पना भी वर्तमान राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति के सिलसिले में ही तैयार करनी होगी, क्योंकि कोई भी योजना युग के मुख्य प्रवाह से पृथक् होकर चल नहीं सकती।

आज देश और दुनिया के सामने मुख्य प्रश्न सामाजिक न्याय का है। मानव समाज का एक हिस्सा दूसरे हिस्से के शोषण पर निर्भर है। सदियों के शोषण तथा निर्दलन के कारण बुनियादी मानव निपीड़ित, निस्तेज तथा बेहोश पड़ा है। ऐसे समाज में नवजीवन का संचार करना आज के युग की पुकार है। हमारी सारी योजना इस पुकार के जवाब में ही होनी चाहिए।

काल-पुरुष की इस पुकार के जवाब में ही सन्त विनोबा ने भूमिदान-यज्ञ आन्दोलन चलाया है। इस आन्दोलन के समक्ष एक महान् उद्देश्य खड़ा है। देश की जनता बेकार है, भूखी है, उसे काम देना है। उसका पेट भरना है। प्रकृति की देन भूमि तथा सारे साधन मौजूद हैं, लेकिन केवल प्राकृतिक साधन ही हमारी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकते। उस पर श्रम के प्रयोग के बिना आवश्यकताएँ पूरी हो ही नहीं सकतीं। प्रश्न केवल यह है कि यह श्रम सार्वभौम होगा या बाजार का सौदा मात्र। इसी प्रश्न को लेकर आज विनोबा निकले हैं। जिस श्रम के बिना मनुष्य का जीवित रहना असम्भव है, वही श्रम जब बाजार के सौदे के रूप में परिणत होकर पूँजी के कारागार में बंदी हो जाता है तो श्रम-देवता का अभिशाप संसार को आज की संकटपूर्ण स्थिति में पहुँचाये तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है?

संत विनोबा संसार को इस परिस्थिति से मुक्त करना चाहते हैं और यही कारण है कि वे सर्वप्रथम प्रकृति देवी की मुख्य देन—भूमि को पूँजी के हाथ से मुक्त कर श्रम की सार्वभौम सत्ता के हाथ में सौंपना चाहते हैं, जिससे वह श्रम-देवता के वाहन के रूप में पूर्णरूप से फलवती हो सके।

अतएव श्रमदान-यज्ञ का आयोजन भूमिदान-यज्ञ की प्रगति के सिलसिले में ही करना होगा और सारी योजना इसी आन्दोलन के पूरक तथा पोषक रूप में बनानी होगी। इसके लिए देश भर में व्यापक आन्दोलन चलाना होगा। यह सही है कि आज जो लाखों एकड़ भूमि भूमिहीनों को वितरित की जा रही है, उसके लिए साधन-दान तथा सम्पत्तिदान का आयोजन हो रहा है,

लेकिन सोचने की बात है कि इनकी शक्ति कितनी है? मनुष्यों के पास आज जो कुछ साधन और सम्पत्ति एकत्र हुई है, वह श्रमशक्ति द्वारा उत्पादित साधन का नगण्य अंशमात्र है। उत्पादन का मुख्य अंश तो उपभोग में चला जाता है। जो कुछ बचता है, उसे लोग इकट्ठा करके रखते हैं। हम साधनदान का जो आन्दोलन चला रहे हैं, वह उस बची हुई सामग्री में से कुछ अंश-मात्र लेने का आन्दोलन है। उससे सन्त विनोबा द्वारा परि-कल्पित विराट् क्रान्ति का पेट नहीं भर सकता। जैसे, नदी का अनन्त प्रवाह चलता रहता है। हम उस स्रोत में से बाल्टी भर-कर घर में पानी एकत्र करते हैं, ताकि समय पर काम आये। सामान्य आवश्यकता पर हम उस एकत्र पानी से काम लेते भी हैं, लेकिन घर में अगर आग लग जाय तो उसे बुझाने के लिए हमें सीधे उसी मूलस्रोत के पास जाना पड़ता है। आग लगने के लिए ही क्यों, खेतों को सींचने के लिए भी हमें उसी मूलस्रोत का सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार अगर भूमिदान-यज्ञ का काम पुराने जमाने की तरह छोटी-मोटी सामान्य राहत का काम होता तो थोड़े-बहुत साधनदान से भी काम चल जाता। लेकिन यह तो एक व्यापक क्रान्ति है। आज देश में करोड़ों एकड़ भूमि हस्ता-न्तरित करनी है। ऐसी हालत में भूमि-वितरण के उद्देश्य की सिद्धि साधन-दान और सम्पत्ति-दान से नहीं हो सकेगी। उसकी पूर्ति तो व्यापक श्रमदान-यज्ञ से ही होगी।

अतएव भूमि-वितरण के साथ-साथ व्यापक रूप से श्रमदान-आन्दोलन चलाना होगा। गाँव-गाँव में श्रमयज्ञ-समिति का निर्माण कर प्राप्त भूमि को तोड़ने, बाँध, आहर बनाने आदि के

कार्यक्रम इस यज्ञ के अभिन्न अंग के रूप में संघटित करने होंगे। इसके लिए कार्यकर्ताओं को भी हर काम के साथ अपना श्रमदान जोड़ना होगा, ताकि वे जनता को इस अनिवार्य आवश्यकता की ओर प्रेरित कर सकें। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार हर सेवक श्रमदान के काम में लग सकता है। प्रस्तुत पुस्तिका के परिशिष्ट में सेवाग्राम-आश्रम के श्री रेड्डी के तथा सूरत के श्री आप्टे के अनुभव दिये गये हैं। उनसे ज्ञात होगा कि अत्यन्त कमजोर व्यक्ति भी अगर संकल्पपूर्वक श्रम का अभ्यास शुरू करे तो वह भी चमत्कार कर सकता है। विनोबाजी द्वारा परमधाम पवनार में जो प्रयोग किए गए, उनसे सभी सर्वोदय सेवक और सर्वोदय से दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्ति अवगत हैं। उन प्रयोगों से भी हर कार्यकर्ता को प्रेरणा मिलती रहती है।

इसके अतिरिक्त कोशिश यह होनी चाहिए कि देश के सभी सार्वजनिक रचनात्मक कार्य तथा ऐसी संस्थाएँ सेवकों के श्रम तथा श्रमदान से ही चलें। इसके बिना सर्वोदय-समाज की स्थापना के उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

आज हमारे देश में जो श्रमहीन तालीम चल रही है, उसकी विषमय परिणति देख देखकर सभी चिन्ताशील व्यक्ति भयभीत हैं। इसलिए तालीम के क्षेत्र में उत्पादक श्रम का व्यापक संघटन अनिवार्य है। इस दिशा में देश भर में तुरंत सक्रिय कदम उठाने की आवश्यकता है। ऐसे समय यह पुस्तिका देश के प्रत्येक सेवक-सेविका को प्रेरणा देनेवाली सिद्ध होगी।

श्री शिवाजी ने इस पुस्तिका में श्रम की तात्त्विक मीमांसा की है। लेकिन आज देश और दुनिया की जो हालत है, उसे देख

जो लोग श्री भावे द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों को नहीं भी मानते होंगे, वे भी यह महसूस करेंगे कि आज अगर सफल राष्ट्र-निर्माण करना है तो वह श्रमदान के आधार पर ही सफल हो सकेगा, कांचन के भरोसे नहीं।

मुझे आशा है कि प्रत्येक पाठक इस पुस्तिका का गहराई से अध्ययन करेगा और जो जहाँ जिस परिस्थिति में है, अपनी शक्ति तथा साधन के अनुसार इस महायज्ञ में अपनी आहुति प्रदान करेगा।

—धीरेन्द्र मजूमदार

अनुक्रम

पहला प्रकरण

[श्रम-सम्बन्धी विवेचन]

दूसरा प्रकरण

[दान-सम्बन्धी विवेचन]

तीसरा प्रकरण

[श्रम-दान-सम्बन्धी विवेचन]

श्र म-दा न

सूतांजलि

[विनोबा]

सूतांजलि पर लिखते हुए हरएक प्रांत में सूत्र-कूट-पर्वत खड़ा करने का विचार मैंने लोगों के सामने पेश किया था। कार्यकर्ताओं को वह आकर्षक मालूम हुआ और कई जगह हासिल हुई गुंडियों का एक ढेर जमा करके उसको सूत्र-कूट-पर्वत के नाम से निर्दिष्ट किया गया और उसके फोटो लोगों ने मेरे पास भेजे। पर्वत तो वे नहीं थे, टीले भी नहीं थे। थे छोटे-छोटे ढेर ही। फिर भी मुझे अच्छा लगा, क्योंकि लोकमानस में कल्पना का आरोपण हो चुकने का वह संकेत था।

पिछले साल देश भर में कुल गुंडियाँ डेढ़ लाख के करीब हुई थीं, जिनमें चालीस हजार अकेले गुजरात की थीं। गुजरात के उत्साही जवानों ने इस साल के लिए संकल्प किया है—पचहत्तर हजार गुंडियाँ प्राप्त करने का। जन-संख्या के हिसाब से एक प्रतिशत गुण्डी मिले, ऐसी उसमें कल्पना है। थोड़े परिश्रम से गुजरात में इतना काम हो सकेगा, इसमें कोई शंका नहीं। गांधी-विचार का बीज उस भूमि में गहरा बोया गया है।

जिस तरह गुजरातवालों ने सोचा है, उसी तरह हर प्रांत में सोचा जा सकता है। बात इतनी ही है कि उसका एक सुव्यवस्थित आयोजन करना पड़ेगा और गाँव-गाँव पहुँचना पड़ेगा। सर्वोदय-विचार के प्रचार के विषय में जो शंकाशील वातावरण गांधीजी के

चले जाने के बाद चंद साल था, वह अब नहीं है। भूदान-यज्ञ का इतना प्रभाव जनता पर पड़ा है कि सर्वोदय को "एक उत्तम, लेकिन अव्यवहार्य" कार्यक्रम अब लोग नहीं समझते हैं, बल्कि अब वे समझने लगे हैं कि इसीसे लोक-कल्याण होगा और वह शक्य भी है। कार्यकर्ताओं को वातावरण के इस परिवर्तन का लाभ उठाना चाहिए।

सरकारी योजना में भी खादी की अनिवार्यता का कुछ भान होने लगा है। स्वयंपूर्ण ग्रामराज्य की दृष्टि से नहीं, तो भी बेकारी हटाने की तात्कालिक गरज से ही क्यों न हो, खादी का वजन बढ़ रहा है। आहिस्ता-आहिस्ता ध्यान में आ रहा है कि खादी जैसे "आजादी का लिबास" रहा, वैसे राजनैतिक आजादी प्राप्त करने के बाद वह "साम्य-योग का संकेत-चिन्ह" बन सकती है। अर्थात् खादी के दो पंखों में से स्वराज्य-प्राप्ति के बाद एक पंख कट गया ऐसा जिन्हें महसूस होता था, वे समझ रहे हैं कि उस कटे हुए पंख की जगह एक नया पंख फूट निकला है। इसका अर्थ यह होता है कि अब सूतांजलि न सिर्फ देहातों से, बल्कि राजधानियों से भी हासिल हो सकेगी। इसका भी लाभ कार्यकर्ताओं को उठाना चाहिए।

सूतांजलि की सारी शक्ति "प्रति मनुष्य एक गुंडी" इस मंत्र में है। उससे गुंडी देनेवालों का एक वैचारिक परिवार बन जायेगा। सर्वोदय-समाज के रजिस्टर में तो हजारों के नाम होंगे, लेकिन सूतांजलि देनेवाले लाखों होंगे। बल्कि, उतनी पुरुषार्थ-शक्ति हममें हो तो करोड़ों भी हो सकते हैं। समर्पित गुंडी के साथ दाता का नाम और पूरा पता तो रहना ही चाहिए, लेकिन

उम्र भी दर्ज हो। छोटे-बड़े सब इसमें दे सकते हैं। इसलिए इसमें न सिर्फ वर्तमान का प्रतिबिंब उठेगा, बल्कि भविष्य की भी सूचना मिलेगी।

उस-उस प्रांत में प्राप्त गुंडियों का विनियोग सर्व-सेवा-संघ साधारणतया उस-उस प्रांत में ही करेगा। परिश्रमनिष्ठ संस्थाएँ खड़ी करने में गुंडियों का सर्वोत्तम उपयोग माना गया है। मेरा सुझाव है कि अगले साल के लिए दस लाख गुंडियाँ इष्टांक माना जाय। १२ फरवरी तक ये सारी गुंडियाँ समर्पित की जानी चाहिए। मुझे आशा है कि पक्षातीत सर्वोदय चाहनेवाले सब लोग उत्साह से इस काम में योग देंगे। ...

श्रम-दान की योजना

[विनोबा]

आप लोग जानते हैं कि सरकार ने हिन्दुस्तान की तरक्की के लिए एक योजना-समिति बनायी है। उसने पाँच साल के लिए एक योजना बनायी है। वह योजना ऐसी है कि सरकार कुछ गाँवों के क्षेत्र को चुनती है। वहाँ रास्ते बनाये जायेंगे, पानी का इन्तजाम होगा और अन्य काम होंगे। पाँच लाख गाँवों में तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि यह तो बहुत भारी योजना हो जाती है, उसमें पैसे का सवाल आता है; इसलिए सरकार ने कुछ गाँव चुने हैं। योजना अच्छी है। परन्तु ऐसी कोई भी योजना तब तक सफल नहीं हो सकती, जब तक कि गाँववालों की ताकत से काम नहीं होता है। इसीलिए हम चाहते हैं कि पाँच लाख गाँवों में एक साथ काम हो। क्योंकि हम गाँववालों के ही आधार पर काम करना चाहते हैं।

सर्वोदय का विचार

अगर पाँच लाख देहातों में काम करना है, तो बाहर की मदद से काम नहीं हो सकता। सरकारी योजना में तो आफिस का बहुत ज्यादा खर्च पड़ता है। बाहर से अफसर आते हैं। लोगों को लगता है कि अब ये ही काम करेंगे। प्रभु का वरदान हमें मिला है तो प्रभु ही काम करेगा। इसीलिए गाँववालों का सहयोग उन्हें नहीं मिलता। उसके लिए क्षेत्र भी ऐसे चुने जाते हैं

जो मोटर के रास्ते पर पड़ें। दूर-दूर के गाँव नहीं चुने जाते। उस पर बहुत खर्च होता है। इस पर भी लोक-शक्ति जाग्रत न हो, और गाँववाले अपनी अक्ल, ताकत और दौलत से काम न करें तो जब तक बाहर से मदद मिलेगी तब तक काम चलेगा और फिर खत्म हो जायगा। इसीलिए सर्वोदय के माननेवालों का विचार है कि गाँव की ताकत से यह काम होना चाहिए और गाँव में ताकत नहीं है, ऐसी बात नहीं है।

गाँव की ताकत

गाँव में श्रम-शक्ति है, उसीसे पैसे का निर्माण होता है। गाँव की जरूरत की सारी चीजें गाँव में पैदा हो सकती हैं। गाँव में कपड़ा बन सकता है, मकान बन सकते हैं। इस पर भी जो थोड़ी-सी मदद बाहर से चाहिए, वह मिल सकती है। इस तरह बहुत सारा काम गाँव की अपनी निजी शक्ति से होना चाहिए। हम खाते हैं, तो अपने हाथों से खाते हैं, दूसरों के हाथों से नहीं खा सकते। खाया हुआ अपनी ही पचनेन्द्रियों से पचाते हैं, इस-लिए हमारा भोजन दूसरा कोई पचायेगा, यह नहीं हो सकता। गाँव की अपनी ताकत बढ़ेगी तभी गाँव में स्वराज्य आयेगा। नहीं तो हर बात के लिए सरकार की तरफ देखना शुरू करें तो पुराने राजाओं के जमाने में जैसा होता था, वैसा ही होगा। उस समय राजा अच्छा रहा, तो प्रजा की हालत भी अच्छी रहती थी। इस तरह राजा पर सारा दारोमदार था। यह गुलामी की हालत खत्म हो, इसीलिए तो हरएक को वोट का हक दिया गया है। लेकिन पेटी में वोट डालने से ही स्वराज्य हो जाय, यह नहीं

हो सकता। जब तक हम अपने परिश्रम से अपने गाँव को सजाते नहीं, तब तक सिर्फ वोट देने से हम जैसे-के-तैसे रह जाते हैं। फिर तो यह होगा कि राजा का नाम गया और उसके बदले में मंत्री का आया।

भूमिदान क्यों ?

वैसे तो सरकार भी कानून से जमीन ले सकती है। परन्तु हम इसीलिए घूमते हैं कि जो जमीन देंगे उनको हम अपना कार्यकर्ता बनायेंगे। जमीन देना याने छुट्टी पाना नहीं, जमीन देना याने सेवा का व्रत लेना है। बेजमीन को जमीन के साथ-साथ और भी मदद देनी होगी। यह सब कौन करेगा ? गाँववालों में से ही जो जमीन देंगे वे और भी मदद देंगे। इसीलिए तो हम कहते हैं कि हमें हर गाँव के हर किसान से दानपत्र चाहिए। किसी गाँव से ९९% दानपत्र हासिल हुए और एक भी कम रहा, तो हम कहेंगे कि हमारा काम पूरा नहीं हुआ। क्योंकि गाँव के बेजमीन लोगों की जिम्मेवारी गाँववालों की है, यही हम समझाना चाहते हैं। धर्म का आचरण हरएक को करना होता है।

गाँव स्वर्ग कैसे बने ?

अपने गाँव को स्वर्ग बनाना हरएक का कर्तव्य ह। इसीलिए हम जमीन का बँटवारा ग्राम-शक्ति से ही करना चाहते हैं। अक्सर लोग मुझसे पूछते हैं कि जमीन तो दी जा रही है, परन्तु और मदद कौन देंगे ? तो हम कहते हैं कि जो जमीन देंगे वे ही और मदद भी देंगे। हम सरकार से मदद नहीं लेंगे। हमें जमीन

सरकार ने थोड़े ही दी है। जमीन तो लोगों ने दी है। बोने के वास्ते एक आये और काटने के वास्ते दूसरा आये, यह नहीं हुआ करता। जो बोयेगा वही काटेगा। इस तरह हम जमीन का बँटवारा और उसके साथ ग्रामोद्योग और नयी तालीम, सब चलाना चाहते हैं।

तालीम के लिए हम सरकार पर भरोसा नहीं रखना चाहते। सरकार स्कूल खोलती है तो उसमें बहुत पैसा खर्च होता है। लेकिन हम तो हर गाँव में बिना पैसे का स्कूल खोलना चाहते हैं। वह एक घंटे का स्कूल होगा। गाँव का कोई भी पढ़ा-लिखा मनुष्य हर रोज एक घंटा पढ़ायेगा। उसके लिए उसको तनख्वाह नहीं दी जायगी। उसे साल भर में थोड़ा-सा अनाज दिया जायगा। वह दिन भर अपना धंधा करेगा और सिर्फ एक घंटा पढ़ायेगा। वैसे ही अगर गाँववाले चाहते हैं कि गाँव में पोस्ट-आफिस खुले तो खुल सकता है। गाँव के ही किसी एक बच्चे को तैयार करके डाक लाने के लिए पोस्ट-आफिस के गाँव तक भेजा जाय तो गाँव में हर रोज डाक आ सकती है। उसी तरह गाँववाले ही अपना दवाखाना गाँव में खोल सकते हैं। औषधि के लिए पैसा परदेश भेजना गलत है। हम चाहते हैं कि गाँववाले मिलकर गाँव में एक छोटा-सा वनस्पति का बगीचा लगायें और वनस्पति का ताजा रस बीमारों को दें। यह सबसे बेहतर तरीका है। बाहर की छह-सात महीने की पुरानी दवाइयाँ जीर्ण-शीर्ण होती हैं। उसी तरह खाद के लिए भी गढ़े बनाये जाँय और मनुष्य के मल-मूत्र का खाद बनाया जाय। इस तरह गाँववाले अपनी ताकत से सब कुछ कर सकते हैं। वे क्या नहीं कर सकते, यही सवाल पूछा जा सकता है।

सम्पत्ति-दान

इसके बाद तो सम्पत्ति की थोड़ी-सी मदद जरूरी है और वह गाँव में ही सम्पत्ति-दान के जरिये मिल सकती है। गाँव में कम-से-कम चार-पाँच ऐसे व्यक्तियों का निर्माण हो, जो अपनी सम्पत्ति का छठा हिस्सा गाँव के लिए दान दें। इस तरह गाँव-वालों के सहयोग से सब कुछ हो सकता है। यही बात न्याय के लिए लागू होती है। अब तक न्याय के लिए लोग दूर-दूर के नगरों में जाते हैं जिससे पैसा और समय की बर्बादी होती है। हम तो चाहते हैं कि गाँव के सज्जन मनुष्यों की राय से ही झगड़े मिटाये जायँ। लोग आज एक के वाद एक ऊपर के कोर्ट में जाते हैं। और 'आखिर के कोर्ट में आपके अनुकूल फैसला नहीं हुआ, तो क्या करोगे?'—यह सवाल पूछे जाने पर कहते हैं कि तब भगवान् का नाम लेंगे। जब आखिर में भगवान् का नाम ही लेना है तो पहले ही क्यों नहीं लेते? यह सर्वोदय का विचार है।

सरकारी शक्ति की सीमा

आपका केवल गाँव के लिए बाहर की ताकत में भरोसा रखकर शान्त बैठना गलत है। ग्राम-राज्य का मतलब यह है कि हम दूसरे किसीके कंधों पर नहीं बैठेंगे। आज स्वराज्य तो आया है, परन्तु गाँव पर शहरों की सत्ता चलती है और सरकारी योजना तो ऐसी बनी है कि जिस तरह माँ-बाप अपने बच्चों की फिक्र करते हैं, उसी तरह सरकार जनता की फिक्र करेगी। जो माँ-बाप होते हैं वे तो सब बच्चों की समान फिक्र करते हैं। परन्तु सरकार सब के लिये काम नहीं कर सकती। इसीलिए चन्द गाँव चुने

जाते हैं। किसीके घर में ऐसा नहीं होता कि कुछ बच्चों को खिलाया जाय और कुछ को भूखों मरने दिया जाय। हमारा ढंग ऐसा हो कि हम सबकी एक साथ सेवा करें। जैसे वर्षा हिन्दुस्तान भर में एक साथ होती है तो पन्द्रह दिनों में सारे हिन्दुस्तान को भिगो देती है। उसी तरह हर गाँव से बूँद-बूँद मदद मिलनी चाहिए।

हर घर हमारा बैंक

हम मानते हैं कि हर घर हमारा बैंक है। हर घर में जो अक्ल, पैसा और ताकत है, वह सब हमारी है। आजकल हमारी सरकार के जो बैंक हैं, वे तो दस-पाँच के होते हैं। लेकिन हम तो मानते हैं कि हर घर में और हर दिमाग में हमारा बैंक है। हमें सिर्फ समझाने की देर है। गीता कहती है—'उद्धरेदात्मनात्मानं' यानी अपना उद्धार खुद करना होता है। जो मरेगा वही स्वर्ग देखेगा। स्वर्ग देखना चाहते हो तो मरने की तैयारी करो। फिर सरकार की भी मदद मिलेगी। गाँव के टैक्स का ९९% पैसा सरकार गाँव को ही दे देगी। उस हालत में लोग टैक्स बढ़ाने के लिए ही तैयार होंगे। आज तैयार नहीं हैं, क्योंकि जिस गाँव का पैसा उसी गाँव में खर्च नहीं होता। आज सरकार भी चाहती है कि लोगों के सहयोग से काम हो।

ग्रामराज्य की योजना

जिस गाँव में अधिक जमीन मिली है, उस गाँव में ग्रामराज्य की योजना बनानी होगी। आज बाहर से सरकारी अफसर

गाँव में जाते हैं। ऐसा हम नहीं चाहते। हम चाहते हैं कि दान देनेवाले दाता ही कार्यकर्ता बनें। वे अपने घर का खायेंगे और हमारा काम करेंगे। इससे उन्हें इज्जत मिलेगी। जिसे आप जमीन देंगे, उसे दूसरी मदद देने की जिम्मेदारी भी आपकी ही है। आप परोपकार करना चाहते हैं, खाना खिलाते हैं और पानी नहीं पिलाते हैं, तो यह भी कोई धर्म है? हम चाहते हैं कि हर गाँव से दानपत्र मिलें। इसका मतलब है कि हर गाँव में हमें कार्यकर्ता मिलेंगे। वाहर की मदद पर निर्भर रहोगे, और अमेरिका से भीख माँगोगे तो अमेरिका की मदद के साथ उसकी सत्ता भी आ जायेगी। इसलिए हम चाहते हैं कि गाँव की ही शक्ति से काम हो। गाँव के जो कार्यकर्ता होंगे वे अपने घर का धंधा छोड़कर काम करेंगे, ऐसी बात नहीं है। वे घर का काम करते हुए गाँव की बातें सोचेंगे। गाँव में हर रोज शाम को सभा होगी, जिसमें गाँव की भलाई की बातें सोची जायेंगी। इस तरह हम मानते हैं कि जिन्होंने हमें दान दिया, उन्होंने गाँव की सेवा का व्रत लिया है। इसलिए आप लोग दबाव से दान न लें। आप दबाव से जमीन ले सकते हैं, पर जबरदस्ती से दाता को कार्यकर्ता नहीं बना सकते। हम तो चाहते हैं कि दान देनेवाले के मन में परोपकार की भावना निर्माण हो और वह गाँव का सेवक बने।

श्रम-दान

[विनोबा]

बहुत खुशी है कि आज मजदूरों के इस क्षेत्र में आप लोगों के दर्शन हो रहे हैं। सारी दुनिया मजदूरों के आधार पर बनी है। मैंने कहा था कि यह पृथ्वी शेषनाग के मस्तक पर स्थिर है। अगर शेषनाग का आधार टूट जाय तो पृथ्वी स्थिर नहीं रह सकेगी, वह जर्रा-जर्रा हो जायगी। यह शेषनाग कौन है? ध्यान में आया कि दिन भर शरीरश्रम करनेवाले मजदूर, जो किस्म-किस्म की पैदावार करते हैं, वे ही शेषनाग हैं। सबका आधार उन मजदूरों पर है। इसलिए भगवान् ने मजदूरों को कर्मयोगी कहा है। लेकिन सिर्फ कर्म करने से कोई कर्म-योगी नहीं होता। हिन्दुस्तान में कुछ मजदूर खेतों पर काम करते हैं, कुछ रेलवे में काम करते हैं, कुछ कारखानों में काम करते हैं। दिन भर मजदूरी करते हैं और अपने पसीने से रोटी कमाते हैं। जो शख्स पसीने से रोटी कमाता है, वह धर्म-पुरुष हो जाता है। उसके जीवन में पाप का आसानी से प्रवेश नहीं हो सकता। दिन भर काम कर लेने पर रात को गहरी नींद आती है। न दिन में पाप-कर्म करने के लिए समय मिलता है, न रात को कुछ सूझ सकता है, क्योंकि थका-माँदा शरीर आराम चाहता है। उसे नींद की जरूरत होती है। जिस जीवन में पापचिंतन की गुन्जाइश ही न हो, वह धार्मिक जीवन होना चाहिए।

कर्मयोगी कैसे ?

पर यह अनुभव नहीं आ रहा है। अनुभव तो यह है कि जो काम नहीं करते, उनके जीवन में तो पाप है ही; पर उन पापों ने मजदूरों के जीवन में भी प्रवेश कर लिया है। कई प्रकार के व्यसन उनमें होते हैं। व्यभिचार भी करते हैं। याने केवल श्रम करने से कोई कर्मयोगी नहीं होता। हाँ, जो श्रम टालता है, वह तो कर्मयोगी हो ही नहीं सकता। उसके जीवन में पाप है तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि उसके पास समय फाजिल पड़ा है। जहाँ समय फाजिल पड़ा है, वहाँ शैतान का काम शुरू होता है। इसलिए फुरसती लोगों के जीवन में पाप दीखता है तो आश्चर्य नहीं, पर मजदूरी करनेवालों के जीवन में पाप दीखता है तो सोचना चाहिए कि ऐसा क्यों होता है। ऐसा इसलिए होता है कि वे कर्म को पूजा नहीं समझते। लाचारी से करना पड़ता है इसलिए कर्म करते हैं। वे अगर काम से मुक्त हो सकें तो बहुत ही राजी हो जावेंगे। सच्चे कर्मयोगी की यह हालत नहीं होती।

कमाकर ही खाना उचित

हम जेल गये थे। कुछ लोगों को सादी सजा थी। उन्हें मजदूरी करना लाजिमी नहीं था। वे लोग ऐसे ही बैठे रहते थे। खाने को मिलता था, खा लेते थे। हाँ, उन्हें दूसरों से पाँच तोला रोटी कम मिलती थी। उनकी शिकायत यह नहीं थी कि काम नहीं मिलता। वे तो खुश थें कि काम नहीं करना पड़ता। पर शिकायत यही थी कि दूसरों से पाँच तोला रोटी कम क्यों मिलती है। यह बात राजनैतिक कैदियों की कर रहा हूँ। हमने

उनके बीच निवास किया। उनके विचार समझ लिये और उन्हें समझाने की कोशिश की कि सरकार ने जो सादी सजा दी है, वह सादी नहीं, भयंकर है। बिना काम किए खाना खुशकिस्मती नहीं, बदकिस्मती है। अंग्रेजों का राज है, पर यह जो खाते हैं, वह अंग्रेजों का नहीं खाते। वह तो अपने समाज का ही खाते हैं। उसके बदले में समाज को कुछ न देना गुनाह है। खुशी की बात है कि वे यह बात समझ गये और जब जेलर से काम माँगा तो जेलर को, सुपरिण्टेण्डेण्ट को आश्चर्य हुआ कि विनोबा ने यह क्या जादू किया!

कर्मयोगी की ही वाणी में शक्ति

जिन्हें काम दिया था वे काम टालने की कोशिश करते थे और जिन्हें काम नहीं दिया था वे माँग करने लगे। यह दृश्य देखकर चमत्कार-सा मालूम होने लगा। हम जो राजनैतिक कैदी थे, सब ने जेल का सारा आटा पीसने का जिम्मा ले लिया था। खुशी से काम होता था। फौरन जादू ऐसी चली कि जेल आश्रम बन गया। रोज शाम को चर्चा चलती और इतवार को धर्म-चर्चा होती। गीता पर वहाँ मेरे प्रवचन हुए। वे ही आज किताब के रूप में छपे हैं और हजारों लोग उसे लेते हैं। और लोगों के चित्त को समाधान मिलता, शान्ति मिलती, क्योंकि जेल में सभी कर्मयोग में मग्न थे। ऐसे जो कर्मयोग में मग्न होते हैं वे ही गीता का सार समझ सकते हैं और उनकी वाणी में ताकत आती है।

जेल भी महल

जहाँ कर्मयोग की भावना जेल में फैली वहाँ जेल, जेल मिट गया या यों कहिए कि जेल महल बन गया। और वहाँ जो रूखा-सूखा मिलता था, वह हराम का टुकड़ा नहीं, राम का टुकड़ा समझ कर खाते थे। जेल से जब बिदाई का समय आया, तो सबको बहुत बुरा लगा। आज भी वे दिन याद आते हैं और लगता है, अब वैसा मौका वापस कब मिलेगा। अब तो स्वराज्य मिल गया है; तो सिवा चोरी करके जेल जाने का कोई उपाय ही नहीं है या फिर कम्युनिस्ट बनो। बाहर वही खाना-पीना, वही काम करना चलता है, पर जहाँ कर्म-योग का विचार आया, चित्त में यह बात पैठ गयी कि बिना काम किये खाना पाप है वहाँ सारा पाप मिट जाता है और विष का अमृत बनता है। हिन्दुस्तान में क्या, सारी दुनिया में फसल मजदूरों से ही होती है। इसलिए हरएक के लिए काम करना लाजिमी है।

काम से घृणा क्यों ?

आज देहाती लोग भी कहते हैं कि हमारे बच्चों को तालीम मिलनी चाहिए। तालीम किसलिए मिलनी चाहिए? इसलिए नहीं कि लड़का ज्ञानी बनेगा, धर्मग्रन्थ पढ़ सकेगा और जीवन में हरएक काम विचारपूर्वक करेगा। पर इसलिए कि लड़के को नौकरी मिलेगी और हम जैसे दिन भर खटते हैं, वैसे उसे खटना न पड़ेगा। मजदूर भी ऐसा सोचते हैं। काम के प्रति ऐसी घृणा मजदूरों में भी है। काम न करनेवालों में तो है ही।

दिमागी काम करनेवाले लोग मजदूरों को नीच समझते हैं। थोड़ा-सा काम लेने के लिए जितनी मजदूरी देनी पड़ेगी उतनी देंगे, पर ज्यादा-से-ज्यादा काम लेंगे। ऐसी वृत्ति ही बन गयी हैं। याने उन्हें तो काम से नफरत है ही, पर मजदूरों को भी काम से नफरत है। वह मजदूरी तो करता है पर उसमें उसे गौरव नहीं लगता। किसी मेहतर से पूछो कि क्या करते हो, तो वह बड़े दुख से कहेगा कि मेहतर का काम करता हूँ।

सभी माता-पिता चाहते हैं कि लड़की अच्छे घर में जाय। अच्छे घर का मतलब जहाँ लक्ष्मी हो, जिस घर में पानी भी नहीं खींचना पड़े। जहाँ पानी भी नहीं खींचना पड़ता, वहाँ अनाज भी नहीं पचता और डाक्टरों के बिल भरने पड़ते हैं।

पार्वती की श्रमनिष्ठा

पार्वती ने कहा था कि मैं तो शंकर को ही वरूँगी। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियों ने उससे कहा कि शंकर फकीर हैं, वहाँ जा कर क्या करोगी? किसी अच्छे घर में जाना। तो उसने कहा, मुझे उसीके यहाँ जाना है।

रामायण की कहानी

रामायण में भी एक कहानी है। अच्छी है। सुनने लायक है। रामजी को वनवास हुआ तो सीताजी ने कहा, मैं भी जाऊँगी। उसे आदत तो नहीं थी ऐसे जीवन की, पर उसने निश्चय किया था कि जहाँ रामजी वहाँ मैं। पर जब कौसल्या ने सुना तो कहा, राम जायगा और सीता भी जायगी तो सीता का कैसे होगा?

मैंने तो उसे दीप की बाती भी जलाने नहीं दी। याने यहाँ भी काम की प्रतिष्ठा मानी नहीं गयी। इसमें अच्छाई भी है कि ससुर के घर लड़की गयी तो उसे बेटी के समान माना, पर मेहनत को हीन माना गया, यह इसमें दीखता है।

काम और खेल

कहते हैं, लड़कों के खेलने का समय है तो खेलने ही देना चाहिए, काम नहीं देना चाहिए। तालीम का समय है तो तालीम ही लेने देना चाहिए, काम नहीं देना चाहिए। तालीम के साथ-साथ काम देते हैं तो वह फैक्टरी बन जाती है। माँ भी अपने बच्चे से कहती है कि बेटा, तू पढ़, अभ्यास कर। काम तो लड़की करेगी।

स्कूल में शिक्षा पढ़ायेंगे, विद्यार्थी पढ़ेंगे, पर सफाई तो नौकर ही करेगा। कचरा करने का काम अध्यापकों का और साफ करने का काम नौकर का।

महाभारत का उदाहरण

धर्मराज ने राजसूय यज्ञ किया था। कृष्ण भी वहाँ गये थे। कहने लगे, मुझे भी काम दो। धर्मराज ने कहा, आपको क्या काम दें, आप तो हमारे लिए पूजनीय हैं, आदरणीय हैं। आपके लायक हमारे पास कोई काम नहीं है। भगवान् ने कहा, आदरणीय हैं तो क्या नालायक हैं? हम काम कर सकते हैं। तो धर्मराज ने कहा, आप ही अपना काम ढूंढ़ लीजिए। तो जानते हैं, भगवान् ने क्या काम लिया? जूठी पत्तलें उठाने का और लीपने का।

शरीरश्रम न करें तो ?

यह उदाहरण हमारे सामने है, किन्तु फिर भी विद्यार्थी, प्रोफेसर काम नहीं करेंगे। व्यापारी काम नहीं करेगा। वह तो केवल लिखा-पढ़ी करेगा। दस के सौ बनाना है तो दसगुना काम नहीं करता है, उसे तो केवल एक शून्य दस पर रख देना है। और जो ज्ञानी हैं उनका काम करना तो बहुत बुरी बात है! ज्ञानी तो खा सकते हैं और आशीर्वाद ही दे सकते हैं। काम नहीं कर सकते। अगर कोई सबेरे उठकर पीसता है तो वह ज्ञानी नहीं, मजदूर कहलाएगा। ज्ञानी को, योगी को काम नहीं करना चाहिए। बूढ़ों को काम से मुक्त रखना ही चाहिए। बूढ़ों को काम देना निठुरता मानी जायगी। यानी बूढ़ा, बच्चा, योगी, ज्ञानी, व्यापारी, वकील, अध्यापक, विद्यार्थी, किसी को काम नहीं करना चाहिए। इतना बड़ा बेकार-वर्ग खड़ा हो जायगा तो बेकारी बढ़ेगी। अगर ऐसा होता कि जो काम नहीं करता वह खाता ही नहीं तो कुछ ठीक था, पर यह तो अधिक खाने को माँगता है। ऐसी समाज-रचना जहाँ हुई है वहाँ मजदूर समझते हैं कि हमें भी काम करने से छुट्टी मिले तो अच्छा होगा। ऐसा समाज जहाँ लाचारी से काम करता है, उसमें कर्मयोगी हो ही नहीं सकते। जो काम टालते हैं, जो काम नहीं करते हैं, उनका जीवन भी धार्मिक नहीं होता। इस तरह हमारा समाज दुराचारी बन गया है। इसी कारण समाज में श्रम की प्रतिष्ठा नहीं रही।

श्रम-प्रतिष्ठा

ऐसे समाज में लोग जाकर समझाते हैं कि श्रम करना चाहिए। श्रम की बहुत प्रतिष्ठा है। तो लोग कहेंगे आप कहते हैं श्रम करना चाहिए। श्रम की प्रतिष्ठा करनी है तो आप क्यों नहीं श्रम करते? हम कहते हैं, हम दूसरा काम करते हैं इसलिए हमें श्रम नहीं करना चाहिए। तो भाइयो, यह जरा सोचने की बात है।

वकील की मिसाल

वकील की ही बात लीजिए। हम यह नहीं कहते कि सभी वकील अप्रामाणिकता से वकीली करते हैं। कुछ सचाई से भी वकीली करते होंगे, प्रामाणिकता से काम करते होंगे, पर हम पूछते हैं वकीलों से कि आपको भगवान् ने भूख दी है तो काम क्यों नहीं करते? काम नहीं करते इसका कारण यह है कि जो दिमागी काम करते हैं उन्होंने दिमागी काम की महत्ता इतनी बढ़ा दी है कि उसे हजार रुपया देना ही उचित मानेंगे और श्रम करनेवालों को कम-से-कम देने की कोशिश करेंगे। शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा ही मानो, पर महात्मा गाँधी तो दिमागी काम करते थे, फिर भी प्रतिदिन थोड़ा-सा समय निकाल कर सूत कात ही लेते थे। काम की इज्जत करनी चाहिए। अगर हम काम की इज्जत नहीं करते तो बड़ा भारी धर्म-कार्य खोते हैं ऐसा समझना चाहिए। यह दूसरी बात है कि कुछ दिमागी काम ज्यादा करेंगे और कुछ दिमागी काम कम करेंगे। पर श्रम करनेवालों को भी दिमाग है और दिमागी काम करने

वालों को भी हाथ हैं तो दोनों को दोनों काम करने चाहिए। तभी दोनों की इज्जत बढ़ेगी, प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

काम-काम में भेद क्यों ?

दूसरी बात यह कि दिमागी काम का और श्रम का मूल्य जो कम-ज्यादा रखा है, वह ठीक नहीं है। पहले तो ऐसी व्यवस्था नहीं थी। ब्राह्मण जो ज्ञानी होता था, पढ़ाता था। वह सिर्फ धोती और खाने का अधिकारी था। वह अपरिग्रही माना गया। पर आज तो जो भी विद्या पाता है, वह उसका मूल्य माँगता है। विद्या बेचने लगे हैं। यह गलत है। "कर्मयोग" की महिमा, श्रम की प्रतिष्ठा कायम करनी है, तो कीमत में अधिक फर्क नहीं करना चाहिए।

शरीरश्रम करनेवालों को हम नीच मानते हैं। उन्हें किसी प्रकार की छुट्टियाँ नहीं दी जातीं। मेहतर को अगर एक दिन भी छुट्टी दें तो सारा शहर गंदा हो जायगा। इतना जो उपकारी है उसे हम नीच मानते हैं। उसे साफ रहने के लिए साबुन आदि भी नहीं देते। न उसकी इज्जत है, न प्रतिष्ठा है, न सम्मान है। मेहतर माने क्या? मेहतर माने तो—"महत्तर"। ऐसा जो महत्तर है उसे हमने नीच माना।

मेहतर और माता की समता

मेहतर को तो नीच माना ही पर अपनी जो माता है उसे भी हमने नीच माना। शास्त्रों में आया है कि दस उपाध्याय की बराबरी में एक शिक्षक और सौ शिक्षकों की बराबरी में एक पिता और हजार पिताओं से भी एक माता बढ़कर है। ऐसा

गौरव है माता का। यह तो शास्त्र की बात है। पर हम स्त्रियों को हीन मानते हैं। स्त्रियाँ खेत पर मजदूरी के लिए जाती हैं तो उन्हें मजदूरी कम देते हैं। स्त्रियों को तो ज्यादा देनी चाहिए, क्योंकि उन्हें घर का भी सब काम देखना होता है। बच्चों का लालन-पालन करना होता है। ज्यादा तो नहीं ही देते, पर बराबरी का भी नहीं देते। हर जगह स्त्रियों को कम मजदूरी दी जाती है। स्त्रियों को भार समझते हैं। स्त्रियाँ रात-दिन काम करती हैं, फिर भी उनका भार लगता है, क्योंकि काम की प्रतिष्ठा ही नहीं है। कहते हैं, स्त्रियाँ उत्पादन का काम नहीं करतीं, सिर्फ रसोई करती हैं। हम तो सिर्फ रसोई क्या है यह समझते नहीं। रसोई उत्पादन का काम नहीं तो क्या बढ़ई का काम उत्पादन का है? बढ़ई क्या करता है? काठ लेता है और उससे नयी चीज बनाता है। वैसे ही स्त्री आटा लेकर रोटी बनाती है। अगर नयी चीज पैदा करने को उत्पादन कहो तो ब्रह्मदेव के सिवा उत्पादन करनेवाले किसी और का हमें पता नहीं। किसान क्या करता है? परमेश्वर का पैदा किया बीज खेत में बोता है। उससे हजार गुना पाता है तो वह भी तो परमेश्वर ही करता है। काठ की खुरपी बनाना, चमड़े का जूता बनाना याने एक चीज का दूसरी में रूपांतर करना। हम नयी चीज नहीं बना सकते। हम खुद ही बनाये गये हैं। हम कृति हैं, कर्ता नहीं हैं।

शरणार्थियों के बीच

जैसे काठ की खुरपी बनाना, काठ का रूपांतर करना है वैसे ही गेहूँ का आटा बनाना, रोटी बनाना गेहूँ का रूपांतर है। क्या

इसे उत्पादन तब समझेंगे जब हमारी माताएँ, बहनें कहेंगी कि हम रोटी बनायेंगे बशर्ते कि हमें अठारह आना रोज मिले।

हम आरंभ में शरणार्थियों में घूमते थे। सरकार ने पहले उन्हें कोई काम नहीं दिया था। आटा मिलता था और उसीकी रोटी बनाकर खाते थे। हमने देखा कि वहाँ के सारे लोग इधर-उधर बैठे हैं, हुक्का पी रहे हैं, मजा कर रहे हैं। पर स्त्रियाँ काम ही कर रही थीं। वे बेकार नहीं थीं। क्योंकि उन्हें पानी लाना, चूल्हा लीपवाना, रोटी पकाना पड़ता था। याने स्त्रियाँ कितनी भाग्यवान हैं। बेकार जमात की स्त्रियाँ भी बेकार नहीं। पर स्त्रियाँ अपने को भाग्यवान नहीं समझतीं। वे तो यही कहती हैं कि पिछले जन्म में कोई पाप किया था, जो स्त्री का जन्म मिला।

ब्राह्मण और शूद्र

पुराने जमाने में ब्राह्मण को और शूद्र को अलग-अलग पैसा मिलता था। दोनों के काम में भिन्नता थी। पर शास्त्रों में यह भेद नहीं था। शास्त्रों में तो कहा है कि दोनों को समान मोक्ष मिलेगा, अगर प्रामाणिकता से अपना-अपना काम करेंगे।

आज तो प्रोफेसर की इज्जत भी ज्यादा और उसे पैसा भी ज्यादा दिया जाता है। इसलिए दो बातें होनी चाहिए। हरएक को कुछ-न-कुछ श्रम करना ही चाहिए। अगर बिना काम किये खाते हैं तो हमारा जीवन पापी बनता है और दूसरे कामों का मूल्य समान होना चाहिए। यह जब होगा तब श्रम की प्रतिष्ठा होगी। आज तो श्रम करनेवाले कहते हैं कि हमें ज्यादा छुट्टियाँ मिलनी चाहिए। आठ घण्टे काम करना पड़ता है। उसके बजाय सात

घण्टा काम होना चाहिए। और छह घण्टा हो जाय तो और भी अच्छा। ऐसा सब क्यों हो रहा है? इसलिए कि ऊपर के वैसा करते हैं। प्रोफेसर साल भर में छह माह छुट्टी लेते हैं। मेहतर को तो छुट्टी दे ही नहीं सकते, पोस्टमैन को छुट्टी देकर क्या किया?

बेकारी और मनोरंजन

बेकारी बढ़ी है तो उन्हें रिझाने के लिए सिनेमा शुरू किये गये। बेकारों को उद्योग तो नहीं मिला, उनका तो वह मनोरंजन हुआ और सिनेमावालों का उद्योग हो गया। इतने बुरे-बुरे सिनेमा चले हैं कि पूछिए मत। पर कोई रोकता नहीं। कहते हैं, रोकना तो विधान के खिलाफ होगा। यह सब हमें मिटाना है और इसीलिए हमने भू-दान-यज्ञ और संपत्तिदान-यज्ञ शुरू किया है।

हम कहते हैं कि जमीन की मालकियत रखना गलत है। हवा, पानी, सूरज की रोशनी का कोई मालिक नहीं हो सकता। पर हुआ यह है कि मजदूरों के लिए छोटी-छोटी कोठरियाँ बनाते हैं। मजदूरों को हवा की आवश्यकता कम है, ऐसा कहते हैं। तो हम कहते हैं कि मालिक और मजदूर को समान नाक क्यों दी गयी? मालिक को दस नाक और मजदूर को एक नाक रहती तो कुछ समझ सकते थे, पर ऐसा नहीं है। हरएक को एक ही नाक है तो मकान में फर्क क्यों? हाँ, फर्क तो यह हो सकता है कि मालिक काम नहीं करते तो उन्हें पचता नहीं और मजदूर को पचता है।

समाज में दर्जे क्यों ?

समाज ने दर्जे बना लिये हैं। उनको हमें दूर करना है, इसलिए हम कहते हैं कि मालकियत की यह बात गलत है कि यह दस हजार एकड़ का मालिक, यह पाँच हजार का मालिक और इसके पास कुछ नहीं। इसलिए संपत्ति और जमीन का बँटवारा होना चाहिए। इसलिए हमने एक फच्चर डाल दिया है और उससे 'साम्ययोगी समाज' बनाना चाहते हैं। इसलिए हमने कहा कि छठा हिस्सा हक के तौर पर दे दो, भिक्षा के तौर पर नहीं।

महाभारत का किस्सा है। पाण्डवों ने माँग की कि आधा राज्य हमें दो। दुर्योधन ने कहा कि नहीं देंगे। तो धर्मराज ने कहा, आधा नहीं देते तो हम पाँच भाइयों को पाँच गाँव दे दो, हम संतुष्ट हो जायँगे। दुर्योधन ने कहा कि हक के तौर पर माँगते हो तो सूई की नोक पर जितनी जमीन रहती है उतनी भी नहीं दूँगा। भीख माँगोगे तो दे सकता हूँ और उसके लिए कितना बड़ा महाभारत हुआ। लोग हमें भी कह सकते हैं कि बाबाजी आश्रम के लिए माँगो तो देंगे पर हक के तौर पर देना तो मुश्किल है। लेकिन हमने तो शुरू से ही हक की माँग की है, भिक्षा की नहीं। हम भिक्षा नहीं माँगते। हम तो दीक्षा देना चाहते हैं।

छठे हिस्सेके बाद ?

कभी-कभी लोग पूछते हैं कि एक बार छठा हिस्सा देने के बाद तो नहीं माँगेंगे? हम कहते हैं—धर्म-कार्य से छुटकारा

पाना होता है क्या? उसमें तो बँधना होता है। आगे ज़ाकर तो सब कुछ देकर गरीब की सेवा में लग जाना है। वामन के तीन पैर हैं। उनमें से एक यह है। वामन के तीन पैर विराट् पैर हैं। आखिर हमें गरीब ही बनना होगा। जीवन को सादा करना होगा।

जैसे बच्चे को उठाने के लिए माँ को झुकना पड़ता है, वैसे हमें भी अपने जीवन का स्तर थोड़ा नीचे करना होगा। इसका आरंभ छठे हिस्से से हुआ है। अगर यह विचार ठीक से समझ जाओगे तो हमारा उपकार ही मानोगे।

अंगों की एकता

बड़े-बड़े राजा-महाराजा घूमते हैं, काम करते हैं। क्योंकि वे समझते हैं कि इस दुनिया में जो गरीब की सेवा करेगा वही इज्जत पावेगा। यह बात अभी सब नहीं समझे हैं, पर वह दिन जल्दी ही आवेगा जब ऊँच-नीच का भेद नहीं टिकेगा।

एक भाई का कान दुखता था। आँखों से आँसू बह रहे थे। मैंने पूछा, क्यों भाई, क्या हुआ? उसने कहा, कान दुखता है। मैंने कहा, कान दुखता है तो आँख क्यों रोती है? क्योंकि कान का दुख आँख महसूस करती है। सारा शरीर एकरूप होकर सेवा करता है। जैसे शरीर के अवयव होते हैं, वैसे ही हम समाजरूपी शरीर के अवयव हैं। कोई हाथ है, कोई पाँव है, कोई आँख है। एक-दूसरे का दुख एक-दूसरे को महसूस होता है, उसीका नाम समाज है। अगर पाँव की वेदना ऊपर न पहुँचे तो वह मरने की निशानी मानी जायगी।

समाजरूपी शरीर

जिस समाज में एक के दुख का अनुभव दूसरे को होता है वह जिंदा समाज है और जिस समाज में एक के दुख का अनुभव दूसरे को नहीं होता वह मुर्दा समाज है। और मुर्दा जलाने की ही लियाकत रखता है। इसलिए हमें ऐसा समाज जलाना ही होगा।

धर्म हमें समझाते हैं कि दूसरे के दुख से दुखी होनेवाले बिरले होते हैं। हम कहते हैं, दूसरे के दुख से दुखी होनेवाले मानव होते हैं। दुख से दुखी होनेवाले बिरले होते हैं, यह मत समझना, यह कहो कि दूसरे के दुख से दुखी होना "बड़ा धर्म" नहीं, "मानव-धर्म" है। बड़ा धर्म तो यह होगा कि एक-दूसरे के लिए मर मिटें। दूसरे के दुख सें दुखी होना मनुष्य का लक्षण है। जिसमें यह लक्षण नहीं होता वह या तो जड़ है या जानवर की कोटि का। इस धर्म का हम प्रचार करना चाहते हैं। और भाइयो, इसलिए हमने इसे 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' नाम दिया है।

हमें यह सब करना है। पर यह काम कौन करेगा? क्या विनोबा करेगा? समाज की उन्नति समाज ही कर सकता है। इसलिए मजदूर को मजदूरी में प्रतिष्ठा माननी चाहिए। हम चाहते हैं, मजदूर भी अपनी संपत्ति का एक हिस्सा दे। हम छठा नहीं माँगते पर एक हिस्सा जरूर दे। तो मालिक को भी सोचना पड़ेगा कि मजदूर देते हैं तो हमें भी देना चाहिए। उन्हें लज्जा होगी और देना ही पड़ेगा। यह मैं नहीं बोल रहा हूं। वेदों ने कहा है—

"बहुत से बड़े-बड़े लोग दान देते हैं वे लज्जा के डर से देते हैं।"

आत्मा की एकता

हम किसीकी बेइज्जती नहीं करना चाहते। हरएक की इज्जत करना चाहते हैं। हमें यह समझ में नहीं आता कि एक सोलह साल का मैट्रिक पास लड़का एक चालीस साल के बूढ़े बढ़ई से कैसे पूछता है कि 'तेरी मजदूरी क्या है?' इस तरह के दर्जे हमें नहीं रखने हैं। कोई कहे, तेरी मजदूरी कितनी है, तो बढ़ई को कहना चाहिए, आप सभ्यता नहीं जानते। पहले सभ्यता सीखिए तब जवाब देंगे। ऐसा कहने की हरएक मजदूर में हिम्मत आनी चाहिए।

हम किसीको दबाना नहीं चाहते और किसीसे दबना भी नहीं चाहते। बिल्ली शेर को देखकर भागती है और चूहे को देखकर हमला करती है। आज ऐसा ही हो रहा है। इधर तो हाँजी-हाँजी करते हैं और उधर डराने-धमकाने लगते हैं। हम किसीको डराना नहीं चाहते, किसीसे डरना नहीं चाहते। हम किसीका अपमान नहीं करना चाहते और किसीसे अपमानित होना नहीं चाहते।

हमें वेदों ने सिखाया कि हरएक में आत्मा एक होती है। यह न सिर्फ वेदांत का विचार है, बल्कि आपकी राज्यव्यवस्था ने यह बात मानी है, इसलिए हरएक को एक वोट दिया है। पंडित नेहरू को भी एक वोट और उनके चपरासी को भी एक वोट। भाइयो, यह न केवल वेदांत है, बल्कि व्यवहार ने भी यह मान लिया है।

सब भाई-भाई के समान रहें, यह हम करना चाहते हैं। इसलिए भू-दान-यज्ञ का विचार सब समझें, यह हम चाहते हैं।..

पहला प्रकरण

[श्रम-सम्बन्धी विवेचन]

विषय-प्रवेश

'श्रम-दान' एक सामासिक शब्द है। वह सब कालों में सब समाजों के लिए अत्यन्त उपयोगी है और समाज की उन्नति का एकमात्र मुद्रा-लेख माना जायगा। यह शब्द 'श्रम' और 'दान' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। इसलिए क्रम से श्रम, दान और श्रम-दान का स्पष्टीकरण करना होगा। पहले 'श्रम' पर ही विचार करें, कारण 'श्रम-दान' में वही मुख्य शब्द है और जीवन का सर्वाधार भी है। हमारा पालन-पोषण और संवर्धन माता के निरन्तर श्रम से हुआ है। माता के श्रम की कोई तुलना नहीं है। उसका माप-तौल नहीं है। माता के जिस श्रम से हम बड़े हुए, सचमुच हमें उसीको माता का स्थान देना चाहिए। यही नहीं; बल्कि हमें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि श्रम ही जीवन की सच्ची आराध्य-देवी है।

'श्रम' शब्द का अर्थ

'श्रम' शब्द संस्कृत भाषा का है और हिन्दुस्तान की हिन्दी, मराठी आदि सब भाषाओं में अपने मूल अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। 'श्रम' स्वतन्त्र क्रिया-दर्शक धातु है, जिसका अर्थ परिश्रम करना और थकना है। उसीसे 'श्रम' संज्ञा बनी है। आगे चलकर यह श्रम-शब्द शास्त्राभ्यास, तप आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त

होने लगा, फिर भी उन सवमें श्रम का मौलिक भाव कभी लुप्त नहीं हो सका। 'श्रम' का मुख्य अर्थ शारीरिक श्रम ही है, किन्तु बौद्धिक श्रम के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ यही कि किसी भी श्रम का मूल आधार शरीर-श्रम ही है। बौद्धिक श्रम शारीरिक श्रम के बिना भी हो सकता है, पर बुद्धि को बिलकुल ही चलाये विना शारीरिक श्रम संभव नहीं। तव वह पागल का कार्य हो जायगा। फिर भी जितना बौद्धिक श्रम एकांगी है उतना शारीरिक श्रम एकांगी नहीं। जैसे शारीरिक श्रम के लिए बौद्धिक श्रम अनिवार्य है वैसे ही एकांगी बौद्धिक श्रम के साथ भी शारीरिक श्रम का योग अवश्य होना चाहिए। यह योग दण्ड-बैठक का व्यायाम नहीं, वरन् उत्पादक शरीर-श्रम ही है। कारण शरीर और बुद्धि को चलाने के लिए उत्पादक श्रम अत्यन्त आवश्यक है।

संसार में श्रम का महत्त्व

सृष्टि में यह योजना ही नहीं है कि न्यायतः बिना श्रम के किसीको कुछ मिले। शिकार करनेवाले हिंस्र पशुओं को सोते-सोते कभी शिकार नहीं मिलता। उसके लिए उन्हें अपनी सारी शक्ति बटोरकर श्रम करना ही पड़ता है। जो हिंस्र नहीं हैं, उन जानवरों को भी भागने, चरने या इधर-उधर घूमने के लिए श्रम करना ही पड़ता है। शहद की मक्खियाँ ५-५ मील घूम-घूमकर शहद लातीं और 'छत्ता' बनाने के लिए अविश्रांत श्रम करती ही रहती हैं। पक्षी चारे के लिए सूर्योदय से सूर्यास्त तक लगातार इधर से उधर उड़ते ही रहते हैं। चींटियों के दीर्घ

उद्योग से धान्य के भण्डार-से, श्रम के मूर्तिमन्त स्मारकरूप वल्मीक के वल्मीक (बांबी) तैयार हो जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि संसार में प्राणिमात्र को अखण्ड श्रम करना पड़ता है।

न केवल प्राणी ही; बल्कि हमारी यह पृथ्वी और नौ ग्रह भी लगातार घूमने का श्रम करते रहते हैं। उनका प्रकाश, उष्णता और गति निरन्तर जारी रहती है।

'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।'

—गीता, ४।१

अर्थात् योग अविनाशी है, यह मैंने सूर्य से कहा—भगवान् का यह वाक्य सूर्य के निरन्तर दर्शन से उसके श्रमयोग यानी कर्मयोग का प्रमाण उपस्थित करने में बहुत बड़ा सहायक होता है। यही कारण है कि कर्मयोगी भक्त इन्हीं उदाहरणों के आधार पर भगवान् से यही प्रार्थना करते हैं:

'नदीला कधीं विश्राम नाहीं
वायु ही नभीं सदैव वाही।
सूर्याला नाहीं विश्रांती ठावी
देवा! मत्सेवा तैशीच व्हावी॥'

अर्थात् नदी को कभी विश्राम नहीं, वायु भी आकाश में सदा बहती ही रहती है, सूर्यदेव को भी विश्राम का नाम तक मालूम नहीं—भगवन्! मेरी सेवा भी वैसी ही रहे।

इतना ही नहीं, स्वयं भगवान् भी कर्म में अखंड खपते हैं।

'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥'

—गीता, ३।२३

अर्थात् 'यदि मैं आलस्य त्यागकर कर्म करने में प्रवृत्त न होऊँ तो सभी लोग मेरे ही जैसा आचरण करने लगेंगे।' गीता का यह वचन कर्मयोग या श्रम-दान के लिए लोगों का बहुत बड़ा मार्गदर्शक है।

'स तपोऽतप्यत। स तपस् तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्।'

—तै० व० २, अनु ६

हमारी ये उपनिषदें बताती हैं कि ईश्वर ने भी तप या श्रम करके ही यह सारी सृष्टि रची।

विश्राम भी श्रम पर निर्भर

किन्तु 'बाइबिल' में ऐसी भी एक कथा मिलती है कि ईश्वर ने लगातार ६ दिनों तक श्रम कर आकाश, पृथ्वी आदि सारी सृष्टि रची और सातवें दिन विश्राम लिया (बाइबल, जेनिसिस चै० १, २)। ईश्वर के विश्राम की इस कथा का भी एक मर्म है। श्रम करनेवाले के लिए विश्राम जरूरी है। आखिर सृष्टि में श्रम के कारण ही तो विश्राम में भी मजा है। जो श्रम नहीं करते, उनके लिए विश्राम भी नहीं। और विश्राम न होने का अर्थ शान्ति और स्वास्थ्य का भी न होना है। अतः आहार और आरोग्य के लिए श्रम और विश्राम की दिन और रात के रूप में अखंड युगल-जोड़ी बना दी गयी है। जीवन का ही दूसरा नाम 'श्रम-विश्राम की अखण्ड मालिका' है।

किन्तु यदि रात की नींद की बात त्याग दें तो भी श्रम से ही

विश्राम पाने की युक्ति है। उसके लिए श्रम से पूर्णतः मुक्ति जरूरी नहीं। इनमें पहली युक्ति यह है कि एक श्रम से जी ऊब जाय तो दूसरे श्रम में लगें तो वह श्रम दूर हो जाता है। दूसरी युक्ति यह है कि कोई भी श्रम अत्यधिक लगन से किया जाय तो वह श्रम ही प्रतीत नहीं होता। जैसे माता की बालक-सेवा। एक तीसरी भी युक्ति है—श्रम में एकाग्रता आने पर वही विश्राम में बदलने लगता है। जैसे-अनुसन्धानकर्ताओं का अनुसन्धान या खोजबीन। जिस श्रम की आदत न हो, वह पहले तो कठिन ही मालूम पड़ेगा, पर अभ्यास हो जाने पर वही विश्राम बन जाता है। जैसे—तैरना। इस तरह अभ्यास से श्रम का श्रमत्व ही मिटा देना एक चौथी भी युक्ति है। ऐसी अनेक युक्तियाँ मिलकर योग बनता है। 'कर्म अकर्म कैसे बन जाता है' इसका स्पष्टीकरण करते हुए पूज्य विनोबाजी ने 'गीता-प्रवचन' में यह विषय अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। सारांश, श्रम में योग को मिलाकर श्रम का विश्राम बनाया जा सकता है। जहाँ दिन में विश्राम का साधन श्रम है वहीं रात में श्रम का साधन विश्राम है।

यदि श्रम न किया जाय तो श्रम में विश्रान्ति और विश्राम में श्रम-स्फूर्ति मिल नहीं सकती। यही क्यों, बिना श्रम के अन्न भी ठीक नहीं पचता। श्रम से अन्न में जो रुचि मालूम पड़ती है, वह किसी पकवान से पैदा नहीं की जा सकती। श्रम से न केवल जीभ, वरन् सभी इन्द्रियाँ सतेज बन जाती हैं। श्रम का देह और बुद्धि पर सर्वोत्तम प्रभाव दीख पड़ता है। जैसे किसी तलवार को सान देकर चमचमाने या किसी वस्त्र को नदी के स्वच्छ जल में खूब धोने पर उनमें तीक्ष्णता, स्वच्छता और प्रसंन्नता पैदा होती

है वैसे ही श्रम से भी बुद्धि में तीक्ष्णता, स्वच्छता और प्रसन्नता आती है। श्रम से भीतर-बाहर शुद्धि होती है।

श्रमयुक्त कृषि और ग्रामोद्योगयुक्त वर्ण-व्यवस्था

यही कारण है कि हमारे प्राचीन ऋषियों के निवासस्थान का नाम 'आश्रम' रखा गया। जहाँ एक विशिष्ट दृष्टि रखकर श्रम किया जाता है, तपस्या का वह स्थान ही आश्रम है। वेद में एक वाक्य आया है—

'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व।'

—ऋग्वेद, १०।३४

अर्थात् मुझे सम्माननीय सवितृदेव ने आदेश दिया है कि 'पासों से जुआ मत खेलो, खेती करो।' ध्यान देने की बात है कि जुआ सरासर जुआ है ही, पर श्रमप्रधान कृषि और ग्रामोद्योग को छोड़ इधर के पैसे को उधर लगाने का अनुत्पादक रोजगार भी एक जुआ ही है। इसीलिए ऋषियों का सदा इसी पर जोर रहा कि 'कृषि को ही अपना मुख्य उद्योग बनाओ।'

इस तरह कृषि-जीवन मुख्य माना गया। उस कृषि और समाज के लिए आवश्यक ग्रामोद्योग यानी गोरक्षा, वाणिज्य आदि उद्योगों को भी मान्यता दे चातुर्वर्ण्य की रचना की गयी। निश्चित किया गया कि सभी वर्ण श्रमप्रधान कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि उद्योग करें—सभी वर्ण श्रम के आधार पर जीवन-निर्वाह करें। किन्तु जिनके पास अधिक ज्ञान हो वे दूसरों को उसे बिना मूल्य दें। ये ज्ञान देनेवाले ही ब्राह्मण हुए। इसी तरह जहाँ साहस, सुरक्षा आदि का प्रसंग उपस्थित हो वहाँ क्षत्रिय बिना

मूल्य आगे बढ़ें। संक्रामक रोग, महामारी, अकाल, बाढ़ आदि संकटों के समय जब विशेष सेवा की जरूरत पड़े तब केवल सेवा की स्फूर्ति रखनेवाले शूद्र बिना मूल्य लिये सेवा के निमित्त आगे आयें।

चातुर्वर्ण्य की यह रचना वैदिक धर्म के सारस्वरूप गीता की चातुर्वर्ण्य रचना श्रम और गुण के सिद्धान्त पर ही निर्धारित हुई। (गीता, ४-१३, १८-४१ से ४४)। यदि ब्रह्मकर्म, क्षात्रकर्म और शूद्रकर्म के साथ कृषि, गोरक्षा, वाणिज्यादि उद्योग न जोड़े जायँ तो वे केवल कर्मशून्य गुण रह जायँगे। अर्थात् ऐसे निराधार गुण गुण ही नहीं रह जायँगे। इसलिए जीवन के लिए श्रम के कार्य वे विशिष्ट गुण मिलकर ब्राह्मणादि त्रैवर्णिकों के कर्म सिद्ध होते हैं और गुण भी सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि शरीर-श्रम से रहित केवल बौद्धिक ज्ञान, केवल राजकीय कार्य या केवल सार्वजनिक सेवा की विषमता गीता के चातुर्वर्ण्य में कहीं नहीं है।

शारीरिक श्रम से बचना समाजद्रोह

आजकल श्रम त्यागकर शिक्षण आदि कार्य किये जाते हैं। इन्हें श्रम करनेवालों से कई गुना अधिक वेतन मिलता है। जो प्रतिष्ठा मिलती है, वह अलग। इस दृष्टि से देखा जाय तो हजारों रुपये कमानेवाले प्रोफेसर या सरकारी नौकर श्रम के आधार पर निर्मित समाज के द्रोही ही कहे जायेंगे। राजकीय कार्य करनेवाले भी श्रम से बचते रहते हैं। इतना ही क्यों, वे विशेष सत्ता, मान-सम्मान और शरीरश्रम करनेवालों की अपेक्षा कहीं अधिक वेतन भी पाते हैं। सार्वजनिक सेवा करनेवाले शूद्र उस कर्म की शेखी

बघारते रहते हैं। वे भी मान-सम्मान के पीछे लगते और अधिकार तथा पैसों की आकांक्षा करते हैं। संक्षेप में आज के चातुर्वर्ण्य का यही नक्शा है। उसमें शरीर-श्रम अर्थात् उत्पादक परिश्रम से बचने की कोशिश है। वह समाज में भेद और विषमता पैदा करता है और केवल स्वार्थ पर खड़ा है।

चातुर्वर्ण्य की सच्ची बुनियाद शरीर-श्रम है और उसकी इमारत गुणों के सहारे खड़ी की गयी है। बिना बुनियाद की इमारत की तरह श्रमविहीन चातुर्वर्ण्य भी भारी खतरे की चीज है। उसमें श्रम तो नष्ट होता ही है, कोई गुण भी सच्चे गुणरूप में बच नहीं पाता। जहाँ श्रम गया, वहाँ विषमता स्वभावतः आ जाती है। सिवा इसके श्रम-प्रतिष्ठा नष्ट हो जाने के कारण विवशता या लाचारी से श्रम करने की वृत्ति पैदा हो जाती है, जिससे श्रम करनेवाले भी किसी तरह, बड़े ही निरुत्साह से श्रम करते रहते हैं। अतः स्पष्ट है कि शारीरिक श्रमविहीन कोई भी वर्ण कभी और किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं कहा जा सकता।

बौद्धिक श्रम के साथ उत्पादक श्रम जरूरी

इस पर कई लोग प्रश्न करते हैं कि 'क्या बौद्धिक श्रम श्रम नहीं है?' इसका उत्तर यही है कि हाँ, बौद्धिक श्रम भी श्रम ही है, पर उसका बदला भी बौद्धिक ही होना चाहिए। जैसे हमने किसी को कोई नया विचार दिया या बतलाया तो उसके बदले में हम उससे दूसरे विचार की तो इच्छा रख सकते हैं, परन्तु विचार के बदले में पैसा या अन्य वस्तु की अपेक्षा रखना उचित नहीं होगा। इसलिए बौद्धिक श्रम करनेवालों को इतने अधिक रुपयों के रूप में

मुआवजा देना, जिससे वे हजारों वस्तुओं का संग्रह कर सकें, सर्वथा अनुचित माना जायगा।

वस्तुतः बौद्धिक श्रम करनेवालों को थोड़ा-बहुत उत्पादक श्रम अवश्य करना चाहिए। इससे उनका और उनके समाज का लाभ ही होगा। उनका वेतन भी अधिक न होना चाहिए। सच तो यह है कि शरीर के लिए आवश्यक वस्तुएँ शरीर द्वारा ही प्राप्त करना सृष्टि-नियम के अनुकूल है। कान को नाद की आवश्यकता होती है, पर उसे आँखों द्वारा पाने की इस सृष्टि में कहीं व्यवस्था नहीं है। शरीर के लिए जो आवश्यक हो वह शरीर द्वारा और बुद्धि के लिए जो आवश्यक हो वह बुद्धि द्वारा ही प्राप्त करना चाहिए। इसीलिए ऋषियों के आश्रमों की तरह पूज्य बापूजी के 'सत्याग्रह-आश्रम' के सिद्धान्तों में भी शरीर-श्रम को महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया और वही चातुर्वर्ण्य का मूल तत्त्व है।

यह ऐतिहासिक प्रश्न कि 'क्या यह गीतोक्त चातुर्वर्ण्य समाज में कभी प्रचलित भी था' यहाँ कोई महत्त्व नहीं रखता। यदि मान भी लिया जाय कि वह कभी प्रचलित न था, तो भी चूँकि चातुर्वर्ण्य की यह कल्पना गीता को मान्य है, इसलिए वह एक आदर्श के रूप में तो अवश्य था। गीता के उपदेशक श्रीकृष्ण का जीवन बाल्यावस्था से ही चातुर्वर्ण्य की नींव—शारीरिक श्रम—पर आधारित रहा। यही कारण है कि गीतोक्त कर्मयोग के निरूपण को एक विशेष प्रेरणाशक्ति प्राप्त हो गयी है और इसीलिए तो गोकुल का श्रमप्रधान ग्राम्य जीवन, राजसूय यज्ञ में जूठन उठाने का काम आदि श्रीकृष्ण की जीवन-लीलाएँ अखिल भारत में भक्ति का विषय बन गयी हैं।

चातुर्वर्ण्य की विकसित कल्पना

चातुर्वर्ण्य की कल्पना ही नहीं, अन्य दूसरी कल्पनाएं क्रमशः उत्तरोत्तर विकसित होती रहती हैं। श्रम पर आधारित और श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट गीतोक्त चातुर्वर्ण्य भी इसी प्रकार का विकसित चातुर्वर्ण्य है। उच्च-नीच भाव का चातुर्वर्ण्य इतिहास में नहीं मिलता—ऐसी बात नहीं, पर वह है अविकसित कल्पना ही। वास्तव में 'वैश्य' वर्ण उत्पादक श्रम की विशेषता से पहचाना जाना चाहिए और ब्राह्मणादि वर्ण उत्पादक श्रम + उन-उन गुणों के वैशिष्ट्य से पहचाने जाँय। ये वर्ण कभी भी जन्म पर निर्भर न रहें। ब्राह्मण या शूद्र पहचानना हो तो उस-उस अवसर या गुण-प्रकर्ष से ही पहचाना जाय। यही चातुर्वर्ण्य की सच्ची विकसित कल्पना है। यह भी सच है कि इसमें किसी प्रकार की विषमता नहीं आती। इसलिए जहाँ एक ही व्यक्ति में चातुर्वर्ण्य एकत्र हो गया है उस समाज में अधिक से अधिक ऐसे व्यक्ति पैदा होते जायँ—यही इस विकसित चातुर्वर्ण्य का ध्येय है। समस्त चातुर्वर्ण्य का अधिक-से-अधिक व्यक्तियों में एकत्रीकरण ही महत्त्व की बात है।

बापू और विनोबा : आदर्श उदाहरण

एक ही व्यक्ति में चातुर्वर्ण्य के अत्युत्कट एकत्रीकरण का अत्युत्तम उदाहरण सारे विश्व के सामने पूज्य बापूजी का है। वे अखण्ड श्रम करते थे। पाखानों की सफाई, बुनाई, खेती मोची का काम, गो-सेवा, छापाखाने का काम, महारोगी की सेवा—इस तरह उन्होंने अपार श्रम किया। इसके सिवा शिक्षा

का काम भी उन्होंने किया। राजकारण और सत्याग्रह जैसे क्षात्र-कर्म भी उन्होंने अद्‌भुत रूप से कर दिखाये। यही कारण है कि वे नवयुग के स्मृतिकार माने गये।

केवल बापूजी ही इसके उदाहरण हैं, ऐसी बात नहीं। सौभाग्य से ऐसे अनेक व्यक्ति आज इसके उदाहरण-स्वरूप मिल सकते हैं, जिनमें पूज्य विनोबाजी का उदाहरण सबके सम्मुख है। उन्होंने आश्रम में महीनों तक प्रतिदिन ६४० तारों की ४ गुंडियाँ यानी १६-१६ लड़ियाँ कातीं। कातते समय वे पढ़ाते भी रहे। दाहिना हाथ थक जाने पर वे बाँये हाथ से कातते। सुरगाँव में उन्होंने भंगी का काम किया और परंधाम-आश्रम में घण्टों खुदाई करते रहे। वे कुँआ खोदने का भी काम करते। उनमें चातुर्वर्ण्य का एकत्रीकरण साफ-साफ दीख पड़ता है।

किन्तु इन प्रमुख कतिपय उदाहरणों को छोड़ दें तो भी सभी में एक अपेक्षित परिमाण में चातुर्वर्ण्य एकत्र होना आज अत्यावश्यक है। कम-से-कम उसकी बुनियाद के रूप में सभी को उत्पादक श्रम में लीन हो जाना चाहिए। तन्मयता से श्रम करना कोई अनोखी बात नहीं है। छोटे बच्चे भी तो तन्मय होकर खेलते ही हैं। एक और उदाहरण लीजिये—आश्रम में एक निरक्षर बढ़ई रहा। वह वहाँ चरखा बनाने का काम करता था। केवल भोजन करने भर का समय छोड़, क्षण भर विश्राम किये बगैर, वह सदा ही तन्मयता के साथ अखण्ड काम में जुटा रहता। एक बार उसने पूज्य विनोबाजी को भोजन के लिए बुलाया। विनोबाजी कहीं भोजन करने जाते नहीं, पर उसके यहाँ चले गये।

भला उस तन्मय अखण्ड श्रम की उसकी 'भाकरी' (ज्वार की रोटी) की लज्जत किस पकवान में आ सकती थी ?

श्रमपरक ही आश्रम-व्यवस्था

जैसे श्रम चातुर्वर्ण्य या सामाजिक जीवन की बुनियाद है वैसे ही वह व्यक्ति-जीवन की भी बुनियाद माना गया है। ऋषियों ने श्रम के आधार पर ही सम्पूर्ण मानव-जीवन की रचना की है। ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्य मुख्य मानकर उसके लिए परिश्रम, गृहस्थाश्रम में गृह मुख्य मानकर उसके लिए परिश्रम, वानप्रस्थ आश्रम में वन को मुख्य मानकर उसके लिए परिश्रम और संन्यासाश्रम में त्याग को मुख्य मानकर उसके लिए श्रम का विधान किया गया। इस तरह ऋषियों ने जीवन की चार प्रमुख अवस्थाओं के अनुसार चार आश्रमों की रचना की। उन सबमें श्रम सर्वसाधारण तत्त्व है। उसमें भी उत्पादक शरीर-श्रम का बहुत बड़ा स्थान है।

इस पर भी यह ऐतिहासिक प्रश्न खड़ा हो सकता है कि 'क्या वर्ण-रचना के समान् चार आश्रमों की रचना भी कभी प्रचलित रही ?' किन्तु इसे भी गौण प्रश्न ही मानना होगा। कारण, आश्रम-रचना की कल्पना उपनिषद्-काल से ही दिखाई पड़ती है। महाभारत, रामायण, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में इन चार आश्रमों के बारे में काफी चर्चा है। फिर भी यदि मान लें कि पहले कभी आश्रम-कल्पना प्रचलित न थी तो भी इतना तो निश्चित ही है कि वह मानव-जीवन के लिए एक अत्यावश्यक शास्त्रीय कल्पना है और अनेक लोगों

ने उसका आचरण किया है। इसमें किसी तरह के सन्देह की गुंजाइश नहीं।

किन्तु आज समाज से इस आश्रम-कल्पना का पूर्णतः लोप हो गया है। शंकराचार्य के समय संन्यास कलिवर्ज्य घोषित हो चुका था, किन्तु लोकोद्धार के अनेक कार्यों में एक महत्त्व का कार्य उन्होंने यह भी किया कि संन्यास की कलिवर्ज्यता मिटा दी। यदि समाज में श्रम की महिमा और लोक-सेवा की भावना बढ़ानी हो तो न केवल संन्यास, वरन् चारों आश्रमों को पुनः जीवित करना होगा। आज तो केवल गृहस्थाश्रम ही एक ऐसा आश्रम बचा है, जिसकी दीक्षा लोगों के सामने दी जाती है। किन्तु ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास से रहित केवल गृहस्थाश्रम कदापि 'आश्रम' संज्ञा का पात्र नहीं, क्योंकि उसमें केवल अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण और उपभोग के अतिरिक्त कोई दृष्टि है ही नहीं।

आज किसीको भी अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के निमित्त चाहे जैसे उपाय करने में किसी तरह की आपत्ति मालूम नहीं पड़ती। इसलिए वहाँ समुचित उत्पादक श्रम का प्रश्न ही नहीं उठता। आज के गृहस्थों की यह वृत्ति-सी बन गयी है कि 'कुछ भी करके पैसा पैदा कर लिया तो सब कुछ पा लिया।' वास्तव में यह समाज-धारणा और नीति की दृष्टि से अत्यन्त शोचनीय बात है।

धन से श्रम का मूल्य अधिक

वस्तुतः देखा जाय तो द्रव्य या पैसा व्यवहार के एक गौण साधन के ही रूप में अपनाया गया। किन्तु जिस तरह किसी राजा की मदद के लिए आया हुआ कोई मन्त्री राजा को हटाकर स्वयं ही मुख्य बन बैठता है, आज पैसे के बारे में भी ठीक इसी तरह की बात हो गयी है। वह आया तो दूसरे मददगार के रूप में, पर बाद में श्रम से तैयार होनेवाली वस्तुओं को पीछे छोड़कर स्वयं ही मुख्य बन बैठा है। पर ध्यान रहे कि जैसे राजा को पदच्युत कर उसकी जगह प्रजा को प्रतिष्ठा किये बगैर लोकतन्त्र व्यवस्थित नहीं होता, वैसे ही पैसे को पदच्युत कर उसकी जगह श्रम की प्रतिष्ठा किये बगैर गृहस्थ-जीवन और समाज-जीवन कभी व्यवस्थित नहीं होगा।

शंकराचार्य उपदेश देते हैं कि 'मूढ़! धन की तृष्णा त्याग दें'—

'मूढ जहीहि धनागमतृष्णाम्।'

उनका यह उपदेश सभी पर समान रूप से लागू होता है। आखिर वे ऐसा क्यों कहते हैं? कारण स्पष्ट है। उसमें वास्तविक अर्थ न होकर अनर्थ ही भरा हुआ है।

'अर्थमनर्थं भावय नित्यं
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।'

अर्थात् 'तुम अर्थ को अनर्थ समझ लो, वास्तव में उसमें सुख का लेशमात्र भी नहीं है'—यह भी उन्हीं का वचन है। सोचने की बात है कि आखिर यह अर्थ अनर्थ क्यों है? कारण, वह एक

धोखाधड़ी है। बाजार में एक सेर अनाज के लिए चार आना खर्च पड़ता है। पर चार आने और एक सेर अनाज की वास्तव में तुलना हो क्या ? सचमुच यह अर्थ का अनर्थ ही तो हुआ ! यदि कोई पत्थर और मानव की तुलना करने लगे तो हम उसे क्या कहेंगे ? जब एक चेतन और दूसरा अचेतन, एक सचर और दूसरा अचर, एक अनेक का प्रेरक और दूसरा अल्प उपयोगी हो तो उन दोनों की परस्पर तुलना ही क्या ? तुलना के लिए कुछ समानता तो होनी ही चाहिए। जहाँ समानता नहीं, वहाँ तुलना में खड़ी की गयी वस्तु साफ-साफ अनर्थ ही तो है। आश्चर्य है कि फिर भी उसे 'अर्थ' नाम दिया गया। पर निश्चय ही वह व्यर्थ है।

आखिर एक सेर ज्वार क्या है ? उसके पीछे कितना श्रम है ? जमीन की देखभाल, जोतना, खाद देना, अच्छे बीज चुनना, उन्हें बोना, सींचना, निरौना, सोपना, पक्षियों से बचाना, अगोरना, बाल काटना, दँवाना, उसावना—आदि कितनी बड़ी श्रम-परम्परा उस एक सेर ज्वार के पीछे खड़ी है ! और यदि वही एक सेर ज्वार बो दी जाय तो पुनः कितनी गुना बनकर मिलेगी ? उसके लिए चवन्नी की ठीकरी का मूल्य ही क्या ? तब क्या चवन्नी की ठीकरी और एक सेर अनाज समान ही माना जायगा ?

'सामर्थ्यानामिव समुदयः सञ्चयो वा गुणानाम्
आविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः।'

अर्थात् धान्यराशि (अनाज का ढेर) मानो जगत् के पुण्य की राशि है। वह सामर्थ्य का उदय है, वह गुणों का संचय है। इस

तरह स्पष्ट है कि पैसा और अनाज आदि वस्तुओं की तुलना कभी हो ही नहीं सकती। कारण अनाज आदि वस्तुओं के पीछे चेतन मानव का बुद्धियुक्त श्रम है। जूता पैर में ही रहना चाहिए। ठीक इसी तरह पैसे का उपयोग गौणरूप में ही होना चाहिए, उसे सिर चढ़ाना ठीक नहीं। पैसे की जगह श्रम-प्रतिनिधि वस्तुओं की ही प्रतिष्ठा की जानी चाहिए।

श्रमयुक्त वस्तु के विनिमय का चलन हो

आजकल पैसे की बदौलत अनावश्यक वस्तुएं खरीदने की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ रही है। पर पैसा एकदम चुराया भी जा सकता, है जब कि श्रम-युक्त वस्तु-विनिमय में यह भय करीब-करीब समाप्त हो जाता है। अतः जिसके पास पैसे से बढ़कर श्रमशक्ति भरपूर है, वास्तव में वही श्रीमान् माना जाना चाहिए। पैसा श्री नहीं, वरन् लक्ष्मी ही श्री है और वह एकमात्र श्रम से ही प्राप्त होती है। अवश्य ही आजकल वही श्रीमान् माना जाता है जिसके पास पैसा हो, कारण पैसा देने पर चाहे जो मिल सकता है। पर यह स्थिति अवश्य बदलनी होगी। लोगों को यह संकेत कायम करना होगा कि कुछ खास चीजों—जैसे घड़ी, साइकिल, रेलगाड़ी का टिकट आदि—के लिए ही पैसे का प्रयोग उचित है। यदि यह स्थिति आ जाय तो निश्चय ही पैसे का मूल्य बहुत कुछ गिर जायगा। भले ही पैसे का पूर्णतः निर्मूलन न किया जाय, फिर भी उसकी सार्वभौम प्रतिष्ठा तो समाप्त करनी ही पड़ेगी। इसके बिना श्रम को महत्त्व मिल ही नहीं सकता।

गाँवों में मुख्यतः जीवनोपयोगी वस्तुएँ ही बनती हैं। ग्रामीण उनसे पैसे भुनाने शहरों में जाते हैं। शहरवाले जो भाव नियत कर दें, उन्हें उसी भाव पर अपनी वस्तुएँ बेचनी पड़ती हैं। यदि ऐसी स्थिति पैदा हो जाय कि गाँववालों को पैसे की जरूरत ही न पड़े तो निश्चय ही वे गाँव का बना माल शहर में बेचने न जायँगे। उल्टे, शहरवालों को ही अनाज आदि खरीदने गाँव जाना पड़ेगा। गाँव में उसका जो मूल्य निर्धारित होगा उसीके अनुसार उनकी खरीद होगी। सारांश, अपनी वस्तु बेचकर पैसा भुनाने की प्रवृत्ति जहाँ तक सम्भव हो, अगर निर्मूल होती जायगी तो श्रम के वास्तविक प्रतीक जीवनोपयोगी वस्तु की प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

'काञ्चनमुक्ति'-प्रयोग

इस दृष्टि से विचार किया जाय तो सरकारी कर या मालगुजारी भी अनाज या सूत के रूप में लेना असंभव नहीं। सरकार इस चलन का प्रयोग करे तो कहा जायगा कि उसने सच्चे चलन की कद्र की। इस वास्तविक चलन से अर्थशास्त्र के बहुत से अनर्थ भी दूर हो जायेंगे। आज एक रुपये में जितना अनाज मिलता है, उतना हमेशा नहीं मिलता। उसमें बराबर परिवर्तन होता रहता है। किन्तु अनाज या अन्य वस्तुओं की बात ऐसी नहीं है। एक सेर अनाज सदा एक सेर ही रहेगा। उसमें केवल पुष्ट-अपुष्ट, अच्छे-बुरे का ही अन्तर पड़ सकता है। सारांश, वस्तु की तुलना में पैसा प्रामाणिक (ईमानदार) चलन नहीं। अतः श्रम-प्रतिष्ठा के लिए प्रामाणिक चलन की सर्वत्र समान रूप से जरूरत है।

पैसा और अप्रामाणिक वस्तुओं का यथासंभव कम-से-कम उपयोग कर श्रम और श्रम-अर्जित वस्तुओं का मूल्य बढ़ाने की दृष्टि से ही पूज्य विनोबाजी द्वारा परंधाम-आश्रम में चलाया गया 'काञ्चन-मुक्ति'-प्रयोग बड़े मार्के का रहा। सारांश, श्रम-प्रतिष्ठा की दृष्टि से पैसे का मूल्य गिराकर जीवनोपयोगी वस्तुओंका मूल्य बढ़ाना अत्यावश्यक है।

श्रम-प्रतिष्ठा के लिए भूमि सब की हो

इसके लिए गृह-उद्योग और ग्राम-उद्योग को थोड़ा भी गाँव से बाहर जाने देना ठीक न होगा। आज गाँव का मुख्य उद्योग—खेती—भी ठीक तरह से नहीं होती। उसमें उचित और जरूरी श्रम नहीं किया जाता। वास्तव में जिन्हें खेती की जरूरत है, उन हजारों-लाखों के पास अपने खेत नहीं हैं। फल-स्वरूप वे केवल खेत-मजदूरी या और कुछ करते रहते हैं। इसी-लिए लगन और अपनत्व के साथ जमीन पर श्रम नहीं हो पाता। अतः यह अत्यावश्यक है कि पैसे या सत्ता के बल पर जमीन का संग्रह करना अनुचित माना जाय। यह बात भूदान-यज्ञ से विश्वविश्रुत हो चुकी है। यदि इस देश में श्रम-प्रतिष्ठा की स्थापना कर समस्त श्रमशक्ति का सदुपयोग करना हो, तो सभी को यह मान्य कर लेना चाहिए कि 'जो जोते, जमीन उसीको।' विना इसके ठीक-ठीक खेती का श्रम हो ही नहीं सकता। सारांश, जमीन सबकी हो जाय और सभी उसकी श्रमपूर्वक सेवा करें। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि 'खेतीयोग्य परिश्रम की दृष्टि से कोई भी भूमिहीन न रहे' इतने भर से काम न चलेगा। कारण,

भूमि-हीन के पास खेती के साधन भी तो नहीं होंगे। अतः श्रम के लिए साधन-हीनों को बैल, हल, औजार एवं अन्य वस्तुएं सुलभ करा देनी पड़ेंगी।

गाँवों में पक्के माल का भी श्रम

खेती के श्रम के साथ ही गाँव के सभी लोगों को वर्ष भर काम देना हो और श्रम के बल पर ही गाँव की सभी आवश्यकताएं पूरी करनी हों तो गाँव में उत्पन्न कच्चे माल से वहीं पक्का माल भी बनाना होगा। यदि कच्चे माल से पक्का माल बनाने का श्रम गाँव से बाहर चला जाय तो भी गाँव टिक नहीं सकता। गाँव में रुई पैदा हो तो उसकी सफाई, धुनाई, सूत-कताई और बुनाई का सारा श्रम भी गाँव में ही हो। गन्ना पैदा हो तो उससे गाँव में ही गुड़ बनाया जाय। तिलहन पैदा हो तो गाँव में ही उससे तेल पेरा जाय। धान हुआ तो उसकी कुटाई भी गाँव में ही हो। गाँव का अन्न घर की चक्की पर पीसा जाय। गाँव में ही दूध से घी बनाया जाय। मरे जानवरों की चमड़ी पकाकर उससे जूते और उनकी हड्डियाँ पीटकर खाद भी गाँव में ही बने। कपड़े सीने का श्रम भी गाँव से बाहर चलना ठीक नहीं। गाँव में औषधि भी बनायी जाय। खपरैल, ईंट, मटके और मिट्टी का उद्योग भी गाँव में ही हो। सारांश, दैनिक जीवन के लिए आवश्यक जितने भी उद्योग हों, सब-के-सब गाँवों में ही किये जायं। गाँव का सारा कच्चा माल गाँव में ही पक्का बनकर निकलना चाहिए। तभी गाँव सुखी, स्वतन्त्र और स्वावलम्बी हो सकेगा।

जिस तरह अधिकतर सभी जीवनोपयोगी वस्तुओं का श्रम

गाँव में होना जरूरी है, उसी तरह गाँव के सभी श्रमों को समान प्रतिष्ठा भी देनी आवश्यक है। पर आज यह कहीं नहीं दीखता, फलस्वरूप गाँव के महत्त्व के श्रमों का ह्रास होता जा रहा है। चमार का व्यवसाय और भंगी का काम नीच माना जाता है। उनकी पूरी-की-पूरी जातियाँ अस्पृश्य समझी जाती हैं। किन्तु श्रम-प्रतिष्ठा और मानवता की दृष्टि से यह घोर अन्याय है। इसलिए 'सभी मनुष्य और सभी उद्योग समान हैं' यह सिद्धान्त आचरण में उतारना पड़ेगा। इतना ही नहीं, नीच माने जाने-वाले भंगी जैसे काम सभी द्वारा करने की प्रथा जारी कर देनी होगी।

श्रम में स्त्री-पुरुष भेद नहीं

श्रमनिष्ठा में वाधक एक बात और है वह यह है कि कतिपय श्रम केवल स्त्रियाँ ही करें। खाली बैठे रहने पर भी पुरुष स्त्रियों के वे काम कभी न करेगा। बीमार होने पर भी उस बेचारी को किसी तरह वह श्रम करना ही पड़ेगा। सभी समाजों में यह एक प्रथा-सी बन गयी है। पर यह अत्यन्त घातक है। समाज में से यह भावना या मान्यता सर्वथा नष्ट होनी चाहिए कि 'पीसना-पछोरना या रसोई बनाना एकमात्र स्त्रियों का काम है, और यदि पुरुष उन कामों में लग जाय तो मानो स्त्री बन गया और उसके लिए यह हीनता की बात होगी।' वास्तव में कोई पुरुष हरगिज इन कामों को हीन न समझे। हरएक पुरुष यह काम करना जाने तथा इनमें भी सदा भाग लेता रहे। कई जगह सूत कातना भी स्त्रियों का ही काम माना जाता है। सचमुच पुरुषों का स्त्रियों के

काम करने में अपनी तौहीन समझना मातृत्व-शक्ति का अक्षम्य अपराध है।

इतना ही क्यों, स्त्रियों को मजदूरी भी पुरुषों से कम दी जाती है। यह सच है कि स्त्रियाँ मेहनत का काम पुरुषों जितना नहीं कर पातीं, फिर भी लगातार मजदूरी में जुटकर आस्थापूर्वक काम करने में पुरुष उनसे पिछड़ ही जाते हैं। इस दृष्टि से स्त्रियों को कम मजदूरी देने और उनके श्रम को कम मानने की विषमता भी अक्षम्य है। वह सर्वथा नष्ट होनी चाहिए। अधिक क्या, इस बारे में अब तक उनके साथ हुए अन्याय एवं उनकी श्रमसम्बन्धी अटूट आस्था पर ध्यान देते हुए स्त्रियों को पुरुषों से कुछ अधिक मजदूरी देना भी अनुचित न होगा।

यन्त्रों के प्रयोग में विवेक

श्रम-निष्ठा में कमी और देश के महत्त्वपूर्ण उद्योगों के नष्ट होने का एक और बड़ा कारण भौतिक शोधों से आविष्कृत यन्त्रों का अविवेकपूर्ण उपयोग भी है। कपड़े की बुनाई, चावल की कुटाई, बिनौले की चुनाई, तिलहन की पेराई, आटा पिसाई आदि उद्योग यन्त्र द्वारा ही करने की प्रथा-सी चल पड़ने के कारण देश में आज हजारों व्यक्ति बेकार हो गये हैं। यदि यन्त्रों से मानव बेकार और पराधीन बनता हो तो वे उसका श्रम बचानेवाले या पोषक न होकर स्पष्टतः मानव-शोषक ही माने जायंगे, इसमें लेशमात्र भी शंका नहीं है।

आम तौर पर ये यन्त्र तीन तरह के होते हैं: (१) गत्युत्पादक, (२) अत्युत्पादक और (३) विनाशक। रेल, मोटर,

जहाज आदि संचार-साधन या टेलीफोन, रेडियो आदि यन्त्र किसी तरह का उत्पादन नहीं करते। वे केवल इधर से उधर जाने-आने में उपयोगी हैं। यात्रा में विशेष गतिमात्र पैदा करते हैं। ये गत्युत्पादक साधन देश के लिए आवश्यक हैं। फिर भी ध्यान रहे कि कहीं इनके कारण भी मानव कमजोर न हो जाय। इसीलिए उठते-बैठते इनका भी उपयोग ठीक नहीं। यहाँ यह विवेक करना होगा कि पास ही में आना-जाना हो तो पैदल चलें, और आस-पास के गाँवों से यातायात करना हो तो बैलगाड़ी का ही उपयोग करें।

इसी तरह अत्युत्पादक यन्त्रों के बारे में भी यह विवेक रखना होगा कि यन्त्रों से पक्के माल का अधिक उत्पादन तो हुआ, लेकिन लोग बेकार हो जायँ तो वह हमारे किसी काम का नहीं। इसके सिवा अत्युत्पादक यन्त्रों के कारखाने मानव की आजादी छीन लेते हैं। नियत समय पर पहुँचने और अपने अधिकारी को खुश रखने की बला भी उसके पीछे लग जाती है। वहाँ न तो खुली हवा मिलती है, और न घरेलू वातावरण ही। सन्त कबीर कपड़ा बुनते-बुनते उपदेश देते और कविताएँ भी रचते रहे—

झीनी झीनी हो बीनी चदरिया !
आठ कमल दल चरखा डोले
पाँच तत्व गुन तीनी चदरिया !......

यह शुभ संस्कृति केन्द्रित-यन्त्रोद्योग में संभव कहाँ ? नित्य उपयोगी अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओं के बीच यन्त्रों को ला बैठाना अपने हाथों अपने को पराधीन बना लेना है। हाँ, छोटे-मोटे यन्त्रों की शोध करके इन कामों में कुछ सुलभता लायी जाय तो

कोई हर्ज नहीं। फिर भी यह अवश्य ध्यान रहे कि हस्त-कला, शरीर-श्रम, स्वावलम्वन, घरेलू वातावरण, स्वातन्त्र्य, शुभ संस्कृति--इन सबका उसमें निरन्तर संरक्षण होता रहे। इतना ही नहीं, इन सबकी उत्तरोत्तर वृद्धि भी होती रहे। सारांश, अत्युत्पादक यन्त्रों का नित्योपयोगी वस्तुओं को छोड़कर घड़ी, साइकिल, विभिन्न औजार आदि के निर्माण में उपयोग अनुचित न होगा। किन्तु देश का जीवन बिगाड़नेवाले यन्त्र, श्रम-प्रतिष्ठा की दृष्टि से सर्वथा अयोग्य ही हैं।

विनाशक यन्त्रोत्पादन अनावश्यक

तोप, बन्दूक, बम के कारखाने जैसे विनाशक यान्त्रिक साधनों की मानव को कतई जरूरत नहीं है। निश्चय ही इनके लिए श्रम करना उसका अपव्यय ही है।

पूछा जा सकता है कि जब तक सभी राष्ट्र, विशेषकर पड़ोसी राष्ट्र इन विनाशक यान्त्रिक साधनों के निर्माण से विरत नहीं होते, तब तक हम इनका निर्माण बंद कर दें तो काम कैसे चलेगा ? आधुनिक युद्ध का सीधा अर्थ यह है कि जब युद्ध प्रत्यक्ष युद्ध के रूप में न चल रहा हो, अर्थात् जब आत्म-संरक्षण या चढ़ाई की तैयारी के लिए लड़ाई न हो, तब विनाशक श्रम द्वारा विधायक श्रम नष्ट करते जायँ और प्रत्यक्ष लड़ाई शुरू हो जाने पर विनाशक श्रम से वनी हुई यह सामग्री ही एक-दूसरे के ऊपर फेंककर नष्ट की जाय तथा रहे-सहे जीवन के विधायक साधन भी नष्ट कर दिये जायं। इसलिए यदि अन्य राष्ट्र ये विनाशक प्रयास अपनायें और हम भी इसमें उन्हें मदद दें तो वह कभी

उचित नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत हमें अपनी रचनात्मक शक्ति ही बढ़ानी चाहिए और उसीमें सारी बुद्धि लगानी चाहिए। श्रम के आधार पर खड़ी हमारी समाज-रचना ऐसी हो कि विनाशक शस्त्रों के बल पर आक्रमण करके आक्रामक हमसे कुछ भी लाभ न उठा सकें।

श्रमनिष्ठा का अन्तिम लक्ष्य

वस्तुतः श्रमनिष्ठा का राष्ट्रीय, मानवीय, मौलिक, व्यापक और उदात्त लक्ष्य यही है कि अपने राष्ट्र में और विश्व भर में ऐसी स्वावलम्बी, सत्याग्रही श्रमशक्ति पैदा हो, जो किसी भी प्रकार के विनाशक आक्रमण का मुकाबला करने में पूर्ण सक्षम रहे। जिस तरह कोई भी व्यक्ति हिमालय जैसे पर्वतराज के विरुद्ध आक्रमण करने को कभी नहीं सोचता, उसी तरह स्वावलम्बी और रचनात्मक श्रमनिष्ठ समाज के विरुद्ध लड़ाई लड़ने की पहले तो किसीको इच्छा ही न होगी और यदि हुई भी तो बारबार वह उसमें असफलता पायेगा और अन्त में भस्मासुर की तरह स्वयं ही भस्म हो जायगा। यही श्रमनिष्ठ समाज के अन्तिम उत्कर्ष की स्थिति है।

सच्ची उच्च संस्कृति

आजकल उच्च संस्कृति की यह कल्पना पेश की जाती है कि 'यन्त्रादि की सहायता से जहाँ तक हो सके, कम-से-कम श्रम कर शेष समय में नाच,गाना, अभिनय, चित्र आदि कलाओं में मानव-जीवन बिताया जाय।' किन्तु श्रम-प्रधान जीवननिष्ठा में उच्च

संस्कृति की कल्पना इस तरह जीवन के खण्ड-खण्ड कर के नहीं की गयी है। श्रम करता हुआ ही हमारा कृषक तुकाराम के 'अभंग' और तुलसी के 'दोहे-चौपाइयाँ' गायेगा। आटा पीसते समय चक्की (के स्वर) पर ही 'मोरोपन्त' (मयूर कवि जो, मराठी के बहुत प्रसिद्ध आर्यादि संस्कृत गीतिकाव्यकार हो गए हैं) के सीता-गीत, सावित्री-गीत गाये जायंगे। ग्रामोद्योग की यही तो खूबी है कि उसमें संस्कृति मिलाकर सुलभता से काम किया जाता है। किन्तु यन्त्रोद्योग में—तीव्र एकांगी काम में यह संभव नहीं।

उच्च संस्कृति का यह मतलब नहीं कि इन्द्रियों के सभी अरमान या चोंचले पूरे किए जायँ। नाचना, गाना, अभिनय करना या चित्रकला कितनी भी बढ़ जाय, पर यह सब उच्च संस्कृति की ही द्योतक होगी, ऐसी बात नहीं। काम के समय के बाद का अध्ययन, संगीत, भजन, ग्रन्थ-लेखन आदि करने में हर्ज नहीं, उसमें कोई बुराई नहीं है; पर यदि यह अवस्था हो कि 'कब काम खत्म हो और कब हम सिनेमा जायँ'—तो वह 'नीच संस्कृति' ही कही जायगी।

जिस तरह किसी फल में माधुर्य, सौन्दर्य, तुष्टि आदि सब तत्त्व अनजाने मिले रहते हैं, ठीक उसी तरह श्रमप्रधान जीवन निष्ठा में श्रम के साथ ही उच्च संस्कृति के सभी गुण मिले-जुले होते हैं। मार्के की बात यह है कि इस श्रमप्रधान जीवन-निष्ठा में उच्च संस्कृति की वह हास्यास्पद खण्डित कल्पना नहीं, जिसमें यह बताया गया हो कि 'पहले आटे की फंकी मारो, फिर घी पियो, अन्त में चीनी चाटो और बस, लड्डू खाने का आनन्द मान लो!' ...

दूसरा प्रकरण

[दान-सम्बन्धी विवेचन]

दान, मानवता और देवत्व

अब तक के विवेचन से श्रमसंबंधी कल्पना स्पष्ट हो गयी होगी। अब 'दान' शब्द पर ध्यान दीजिए। 'दान' का अर्थ है, देना। 'देना' एक सीधी-सी क्रिया है, पर इसमें मानव की मानवता भरी हुई है। पशु तो देना जानता ही नहीं। वह दूसरे का लेना चाहता है। सारांश, दूसरे को देना यह क्रिया बिल्कुल साधारण होती हुई भी, चूँकि इसमें ममत्व के त्याग की भावना भरी है, इसलिए यह पशु द्वारा न हो सकनेवाली क्रिया है।

'दानेन पाणीर् न तु कंकणेन'

अर्थात् सोने के कंगन से हाथ की शोभा नहीं, वह हाथ के लिए बोझ ही होगा। हाथ की सच्ची शोभा तो दान ही है। दान मानवता का अलंकार है। उसका हाथ को भार कभी नहीं होता, उससे सभी के आभार ही मिलते हैं और मानवता का बोझ मिट जाता है।

मानव की यह दान-वृत्ति बढ़ते-बढ़ते जब अखण्ड जीवन-वृत्ति बन जाती है तब उसमें मनुष्यत्व के ऊपर का देवत्व पैदा हो जाता है। 'देव' का अर्थ है—निरन्तर देनेवाला। इसके विपरीत यदि उसमें लगातार पशुता बढ़ने लगे और दूसरे से

छीन-झपटकर उसे सदा अपने ही पास बनाये रखने की वृत्ति पैदा हो तो उसमें 'राक्षसत्व' उत्पन्न हो जाता है। राक्षसत्व का अर्थ है—न देनेवाला, निरन्तर सहेजकर रखनेवाला।

सोचने की बात है कि मानव कितना ही दान क्यों न दे, तो भी क्या उसके उस दान को उस पैमाने पर देना कहा जायगा, जिस पैमाने पर वह इस सृष्टि से, अपने पूर्वजों से, माता-पिता, इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव, गाय-बैल सबसे नित्य लेता रहता है? देने का एक अर्थ 'लिए हुए का लौटाना' भी है और वास्तव में वह ठीक भी है। जो कभी पूरा चुकता नहीं हो सकता, दान में उसे चुकता करने (लौटाने) का विनम्र यत्न छिपा हुआ है।

समाज में सदा दान-प्रवाह बहे

यह दान सभी पर लागू है। इसीलिए यह व्यक्तिगत न होकर सारे समाज में फैलाने की वस्तु है। नदी का जल बराबर आता-जाता (बहता) रहता है। इसी तरह चूँकि हमारा समाज से लेने का क्रम बराबर जारी है, इसलिए हमें समाज को देने का क्रम भी (प्रवाह) चालू रखना चाहिए। ध्यान रहे कि हर नदी प्रवाह से ही शुद्ध रहती है। यदि उसका बहना बन्द हो जाय तो वह शुद्ध नहीं रह सकेगी। उसमें गड्ढे हो जायँगे और उसमें गन्दगी और अशुद्धता ही बढ़ेगी। इसी तरह समाज में भी यदि दान का प्रवाह न रहा तो सामाजिक जीवन में सड़न पैदा हो जायगी। इसीलिए वहाँ दान-गंगा निरन्तर बहती और बढ़ती रहे। यही कारण है कि शंकराचार्य ने क्षत्रिय गुणों यानी समाज-

रक्षण के गुणों में दान का यह स्पष्टीकरण किया है—'दानं देयेषु मुक्तहस्तता' अर्थात् खुले हाथों देना ही दान है।

दानकी सर्वोच्च भूमिका अहन्ता-दान

गंगा आगे बढ़ती-बढ़ती अन्त में समुद्र में इस तरह जा मिलती है कि वह स्वयं भी शेष नहीं रह जाती। उसी तरह दान भी देते-देते अन्त में स्वयं दाता ही दे दिया जाता है। यों तो सागर में असंख्य गागरें भरी हैं, पर यहाँ दाता के दिए जाने का मतलब 'गागर में सागर को समा लेना' है। यह दान पूर्ण अहंता का दान है। किसी वस्तु में अपना जो ममत्व होता है उसे त्याग देना, उस पर से अपना स्वामित्व विसर्जन करना ही दान है। ममता का यह दान करते-करते किसी समय अहंता का भी दान हो जायगा। यही दान की सर्वोच्च कल्पना है। जिस तरह श्रमनिष्ठ जीवन की सर्वोच्च कल्पना यह है कि 'उस (श्रमनिष्ठ) पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता और न श्रमनिष्ठ ही किसी पर आक्रमण करेगा' उसी तरह दान की भी सर्वोच्च कल्पना यह है कि 'दाता पर ममता-अहंता का आक्रमण न हो और न दाता ही ममता-अहंता पर आक्रमण करे।' मतलब यह कि न तो दाता कभी ममता-अहंता के पीछे लगेगा और न अहंता-ममता ही दाता के पीछे लगेगी। दान की यही सर्वोच्च अवस्था है।

दान में वस्तु से 'वृत्ति' महत्त्वपूर्ण

यही कारण है कि दान में 'कितना दिया गया' यह मुख्य नहीं, 'किस वृत्ति या भावना से दिया गया' इसी का महत्त्व है। एक

गरीब के पास बहुत ही कम जमीन थी। उसने भूदान-यज्ञ में उसमें से आधी दान कर दी। जब उससे पूछा गया कि 'तुम्हारे पास तो किसी तरह गुजारे भर की जमीन थी, तुम्हें भूदान में उसे देने की क्या आवश्यकता थी?' तो उसने कहा—'क्या गरीब पुण्य न करें, केवल श्रीमान् ही पुण्य कर सकते हैं?' सचमुच यह भूदान करनेवाला लाखों एकड़ भूमि देनेवाले श्रीमानों, राजे-रजवाड़ों से कहीं अधिक श्रीमान् है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कारण उसके पास दिल की अमीरी है।

दान देने से जहाँ वस्तु संचित होकर निरुपयोगी पड़ी रहने से बचकर समाज के काम आती है, वहाँ सम्पत्ति बढ़ती भी है और उसके कारण समाज से दरिद्रता भी दूर हो जाती है। साथ ही दाता की संकुचित वृत्ति नष्ट हो कर उसका हृदय विशाल हो जाता है। फलस्वरूप समाज अन्तर्बाह्य ऐश्वर्य से युक्त होने लगता है।

दान में यह कंजूसी कभी नहीं रहती कि 'अमुक के पास अधिक धन है तो उसे हम क्यों न ले लें?' या 'अमुक इतनी अधिक वस्तुओं का उपयोग क्यों करे?' इसके विपरीत दान में ऐश्वर्य की यह भूमिका पायी जाती है कि 'मेरे पास जो कुछ है, उसे सबको किस तरह बाँट सकूँ?' दान में यह भी वृत्ति नहीं रहती कि 'अमुक के पास अमुक वस्तु है, तो उसे छीनकर सबको कैसे बाँटूँ?' इसी तरह दान में यह कल्पना भी नहीं है कि 'अमुक के पास अमुक वस्तु की बहुतायत है, फिर भी वह उसे नहीं देता तो उसे किसी तरह देने के लिए विवश किया जाय!' वहाँ तो न देनेवाले को अपना बना लेना और अपना विचार उसे भली-भाँति समझा देना ही मुख्य माना गया है। जब वह हमारा बनकर

हमारे विचार का कायल हो जायगा तो फिर वह कभी भी अपने पास आवश्यकता से अधिक रख ही नहीं सकता।

विचार और भावना का दान

आखिर हमारा दान का विचार दूसरों की समझ में क्यों नहीं आता? कारण स्पष्ट है। हमारे विचार में ताकत नहीं। यदि विचार के पीछे आचार, भावना, बोध, तपस्या और शुद्धता की प्रचण्ड शक्ति हो तो निश्चय ही हमारा विचार दूसरों की समझ में आकर रहेगा। भला, सूर्य-प्रकाश में कभी अन्धेरा टिक सकेगा? कारण सूर्य के पास प्रकाश की प्रचण्ड शक्ति जो है!

दान में वस्तु मुख्य न होकर अन्तःकरण ही मुख्य है। दान से बुद्धि और अन्तःकरण की परम शुद्धि और विकास ही अपेक्षित होता है। इसीलिए शक्तियुक्त विचार-दान की तरह ही भक्ति-युक्त भावना-दान भी सर्वश्रेष्ठ दान है। समाज में श्रेष्ठ या उच्च भावनाओं का निर्माण और श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों को बद्धमूल करना ही भावना-दान है। यह भावना-दान बड़े पैमाने पर तभी हो सकता है, जब कि व्यक्ति की भावना विशाल, उच्च और गंभीर हो।

इसीलिए स्पष्ट है कि दान में क्षुद्र मनोवृत्ति कभी भी गवारा नहीं की जा सकती। यदि कोई अपने नाम के लिए दे, तो कहना होगा कि देने और लेनेवाले दोनों ही दान का मर्म कतई नहीं जानते। वह दान 'हीन-दान' ही कहा जायगा। कुछ लोग कहते हैं कि 'यदि कोई किसी इमारत पर अपना नाम रखना चाहता है और उसके बदले में लाख रुपया देना चाहता है तो उसे लेने में हर्ज ही क्या है? आखिर इस तरह बैठे-बैठाये एकदम इतने रुपये

कहाँ से मिलेंगे ? लोक-सेवा के काम तो आयेंगे ?' किन्तु इन लाख रुपयों का लोक-सेवा में व्यय होने की बात गलत है। ऐसा कहने में वास्तविक लोक-सेवा-वृत्ति नहीं है। अवसरवादिता से लोक-सेवा कभी नहीं हुआ करती। कितने तो इससे भी दो कदम आगे बढ़ कर कहते हैं कि 'सेठजी ! इतने रुपये दे दीजिए, आपका नाम हो जायगा।' पर ध्यान रहे कि नाम का प्रलोभन देकर किसी तरह लोक-सेवार्थ पैसे उगाहना लोकसेवक की क्षुद्रवृत्ति ही मानी जायगी। यहाँ साधन की शुद्धि नहीं है।

सात्विक दान ही दैवी वस्तु

इसीलिए गीता में दान के तीन भेद बताकर उनमें सात्विक दान को ही ग्राह्य और राजस-तामस दान को त्याज्य बताया गया है। वहाँ सात्विक दान का लक्षण बताया गया है :

'दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥'

—गीता १७।२०

अर्थात् योग्य देश यानी योग्य कार्य में, उचित समय में जो उत्त-रोत्तर पुण्य प्रेरणा का बीजारोपण करता रहे, ऐसे सुयोग्य व्यक्ति को कर्तव्य-भावना से किसी भी प्रकार के प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए, जो दिया जाता है, वह सात्विक दान है।

इस सात्विक दान का लक्ष्य समाज में दैवी भाव का निर्माण करना है। इसीलिए शंकराचार्य ने दैवी भाव या दैवी गुणों के अन्तर्गत दान का यह स्पष्टीकरण किया है—'दानं यथाशक्ति संविभागः' अर्थात् दान का अर्थ है, समुचित विभाजन। समाज में

जो अनुचित विभाजन हो, विषमता आ गयी हो, उसे मिटाने के लिए समुचित विभाजन करना दान की प्रक्रिया है। जहाँ विषमता आये और अनुचित विभाजन हुआ हो, वहाँ दैवी भाव रह ही नहीं सकता। सारांश, दैवी संस्कृति की स्थापना के लिए दान या सम्यक् विभाजन अत्यन्त आवश्यक है और वह अहिंसा द्वारा भलीभाँति होना चाहिए। इसलिए दान का यह नित्य-सूत्र होना चाहिए—'दानं सम्यक् विभाजनम्, सम्यक् प्रकारेण', कारण 'येन केन प्रकारेण' सम्यक् विभाजन हो ही नहीं सकता।

दान से सामाजिक कमी की पूर्ति

दान के विषय में 'गीता-प्रवचन' में पूज्य विनोबाजी ने काफी विवेचन किया है। यज्ञ से सृष्टि की, दान से समाज की और तप से शरीर की कमी पूरी करने का यत्न किया जाता है। इसीलिए साधक के लिए गीतोक्त यह त्रिविध कार्यक्रम बताया गया है। इसीलिए यह दान नैमित्तिक न होकर नित्यकर्म है, यह बात इस विवेचन से स्पष्ट हो जाती है। इस पर सहज ही प्रश्न उठता है कि फिर नैमित्तिक और धार्मिक रूढ़ि के दान या किसी समय गरीबों को दिये जानेवाले दान की क्या व्यवस्था होगी? इस पर यही कहा जायगा कि उसके लिए दानखण्ड (हेमाद्रि), दानमयूख, दानचन्द्रिका, दाननिरूपण आदि अनेक ग्रन्थ बने हैं। हेमाद्रि के 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' में 'दानखण्ड' नाम का एक स्वतंत्र प्रकरण है। किन्तु स्पष्ट है कि सर्वोच्च दान-कल्पना की दृष्टि से ये सभी दान गौण हैं। सामाजिक क्रान्ति की

दृष्टि से भी इनका बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है, यद्यपि समाज में इस प्रकार के दानों का परिणाम या प्रभाव कम नहीं दीखता। इसीलिए 'मधुकर'[1] के प्रसिद्ध लेख 'दान और त्याग' में पूज्य विनोबाजी ने गरीबों को दिए जानेवाले नैमित्तिक दान को ऊपरी मरहम पट्टी और त्याग को खाने की दवा कहा है। सचमुच ही आज कर्मकाण्डोक्त दान को नयी प्रेरणा देना अत्यावश्यक हो गया है।

दान में दाता-प्रतिग्रहीता का वर्गभेद नहीं

जैसे दान देना कर्तव्य है, वैसे ही उसे लेने में भी क्या दीनता या लज्जित होने का भाव है? यह एक बड़े महत्त्व का प्रश्न है। वास्तव में जो भूमिदान ले, वह समाज का प्रतिनिधि बनकर ही उसे ग्रहण करे। तब उसमें वह जो पैदावार करेगा, सारी उसीकी न होकर उसमें समाज का भी कुछ भाग नियत रहेगा। इस दृष्टि से देखा जाय तो जैसे योग्य दान देना बड़प्पन न होकर कर्तव्य ही है, ठीक वैसे ही उसका लेना भी दीनता न होकर कर्तव्य ही सिद्ध होगा। इसके विपरीत अपने पास अयोग्य रीति से अधिक जमीन, अधिक साधन-सम्पत्ति जमाये रखने का पाप दान से घुल जाता है, और दान लेनेवाले ने तो यह पाप ही नहीं किया है। अतः उसके दान लेने में किसी भी तरह की मानहानि नहीं है। वह उसका हिस्सा ही है।

---

१. 'मधुकर' प्रकाशक—ग्राम सेवा मंडल, गोपुरी, वर्धा

साथ ही दान लेनेवाले को भी दान से वंचित न रहना चाहिए। इसीलिए जैसे दान लेनेवाला ब्राह्मण और उसे देनेवाले क्षत्रिय आदि इस प्रकार दो वर्ग बन गए हैं, वैसे ही 'दान देनेवाले' और 'लेने वाले' इस तरह के दो वर्ग बनाने की कल्पना ठीक न होगी। जमीन या अन्य साधनों का दान लेनेवाले दरिद्र से-दरिद्र व्यक्ति को भी दान से कभी विरत न रहना चाहिए। उसे भी यथाशक्ति दान करते ही रहना चाहिए। ...

तीसरा प्रकरण

[श्रम-दान-सम्बन्धी विवेचन]

श्रमदान सर्वश्रेष्ठ दान

जिस दान में पूर्वोक्त सार्वभौम दानशक्ति निहित है और जो समाज की समस्त साधन-सम्पत्ति, समृद्धि एवं बुद्धि-वैभव का मूल है, वही 'श्रम-दान' है। जिनके पास विशेष बुद्धि है, जमीन और अन्य साधन-सम्पत्ति प्रचुर है, वे तो उन-उन चीजों का दान कर सकेंगे, पर जिनके पास ये चीजें सर्वथा न हों या बहुत ही कम मात्रा में हों, वे किसी भी तरह दान न कर सकेंगे। फलतः दाता और प्रतिग्रहीता (देने और लेनेवाला) ये दो वर्ग बनकर ही रहेंगे। किन्तु यह वर्गभेद न करके भूमि को स्वर्ग बनाने की शक्ति यदि किसी दान में है और वर्गविहीन समाज बनाना है, तो उसका एकमात्र उपाय श्रमदान ही है। इसलिए जिस तरह किसी असाधारण पुरुष द्वारा किया गया विचार और भावना का दान असाधारण होने के कारण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, उसी तरह साधारण पुरुष द्वारा किया जानेवाला श्रमदान भी सार्वत्रिक और मूलभूत दान सर्वश्रेष्ठ दान माना जायगा।

श्रमदान के लिए श्रमशक्ति का संग्रह आवश्यक

इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि 'सभी लोग श्रम कहाँ कर सकते हैं? मध्यम और श्रीमान् लोग आज इतनी

गिरी हुई हालत में हैं कि उनसे अन्य दान करते ही नहीं बनता और न श्रमदान ही संभव है; क्योंकि उनसे परिश्रम होता ही नहीं, उनमें श्रमशक्ति का सर्वथा अभाव है। फिर वे श्रमदान कैसे करें?' बात ठीक है। किन्तु श्रमशक्ति से हाथ धोया हुआ व्यक्ति उसे पुनः कमा ही नहीं सकता, ऐसा थोड़े ही है? अभ्यास से श्रम-शक्ति पुनः पायी जा सकती है। वास्तव में प्रत्येक के लिए श्रमशक्ति का अर्जन अनिवार्य है, भले ही कोई श्रीमान् हो या बुद्धिमान्। पूज्य बालकोबाजी वर्षों तक तपेदिक से पीड़ित हो खटिया पर पड़े थे। पर अपनी सतर्कता, अभ्यास और योग द्वारा उन्होंने क्षय-रोग को तो जड़-मूल से मिटा ही डाला, घन्टों घूमने और फावड़ा भी चलाने लग गये। १०-१०, १५-१५ मील की मंजिलें तय करने लगे। उच्च और मध्यम वर्ग के लोग क्षय-रोगी से अधिक कमजोर तो नहीं माने जा सकते। अतः स्पष्ट है कि उनके लिए अभ्यास द्वारा श्रमशक्ति का अर्जन असंभव नहीं।

श्रमदान के प्रकार और विषय

इसके सिवा, श्रमदान में विविधता का अभाव थोड़े ही है। सभी वस्तुओं की तरह उसमें भी हल्का श्रम, मध्यम श्रम और तीव्र श्रम का तर-तम-भाव है ही। सूत कातना हल्का श्रम है। जमीन की खुदाई जैसा तीव्र श्रम करनेवाले के लिए तो वह विश्राम ही मालूम पड़ेगा। इसलिए श्रमदान में वस्तुतः किसीको कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। केवल श्रमदान की वृत्ति चाहिए।

आज देश में लाखों एकड़ जमीन परती पड़ी है। गोड़ाई कर के उसे खेती योग्य बनाना है। हजारों गाँवों में सड़कें बनानी

हैं। यात्रियों के लिए गाँव-गाँव में चौपाल तैयार करनी हैं। मैले की खाद प्रायः सर्वत्र व्यर्थ नष्ट हो रही है, अतः उसके समुचित उपयोग के लिए गड्ढेवाले पाखाने और बरसात के लिए छाजन-दार पाखाने बनाने हैं। पत्तियों के ढेर के ढेर यों ही व्यर्थ नष्ट हो रहे हैं, उनके उपयोगार्थ जगह-जगह कम्पोस्ट के सैकड़ों गड्ढे बनाने हैं। पाठशालाओं के लिए गाँव-गाँव सैकड़ों छोटी-छोटी झोपड़ियाँ तैयार करनी हैं। छोटी-छोटी नदियों का पानी व्यर्थ बहा जा रहा है, उसे रोकने के लिए छोटे-छोटे बाँध बाँधने हैं। जगह-जगह सिंचाई के लिए कुँएं खोदने हैं। हजारों खेतों में चकबन्दी करनी है। जगह-जगह उपयोगी पेड़ लगाने हैं, सफाईका काम करना है। दलदल प्रदेश में छोटी-छोटी पुलियाँ बनानी हैं। क्या ये सारे काम सरकार कर सकती है? ये काम श्रमदान से ही हो सकते हैं। इन कामों के करते समय गरीब-अमीर, छोटा-बड़ा, शिक्षित-अशिक्षित, सरकारी-गैरसरकारी, स्त्री-पुरुष—सभी प्रकार के भेद भाव भूलने का अवसर और बहुत बड़ा साधन प्राप्त होगा। इससे राष्ट्र कार्य के निमित्त प्रचण्ड श्रमशक्ति का आविर्भाव होगा।

श्रमदान की आचारनिष्ठा

इसके लिए यह जरूरी नहीं है कि श्रमदान के बारे में बहुत धूमधाम मचायी जाय, उसके फोटो लिए जायं, उस पर बड़े-बड़े भड़कीले लेख लिखे जायं। कितने ही लोग यह समझते हैं कि इससे प्रचार होगा। दूसरों को किसी बात की जानकारी कराने में हर्ज नहीं, परन्तु दूसरे के लिए और केवल प्रचार के लिए हमें श्रमदान नहीं करना है। यह विचर हमें जँच गया है, इसलिए

अपने आचार के लिए, अपने कल्याण के लिए ही श्रमदान करना है। सारांश, समाज में यह अटूट कड़ी बन जानी चाहिए कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, एक समूह दूसरे समूह को अपने श्रम से सहज ही मदद पहुँचाता रहे।

कुछ आदर्श श्रमदान

विनोबाजी ने श्रमदान के सिद्धान्त पर ही ब्रह्मविद्या की नगरी काशी में 'स्वच्छकाशी'-आन्दोलन चलाकर सबको यह अनुभव करा दिया कि 'सा काशिकाऽहं निजबोध-रूपा।' उत्तर प्रदेश में छात्रों और अन्य लोगों ने श्रमदान द्वारा बहुत से बड़े-बड़े काम किए हैं। महाराष्ट्र में भी सेनापति बापट, गोधड़े-बोवा, तुकड़ोजी महाराज अनेक प्रकार के श्रमदान के आयोजन करते और कराते रहते हैं।

श्रमदान का अन्तिम लक्ष्य

इसी तरह सर्वत्र श्रमदान की ऐसी परम्परा चलती रहे। जैसे शहद की मक्खियों का काम चुपचाप बिना होहल्ले के चलता रहता है, वैसे ही हम भी श्रमदान से ही पृथ्वी, आकाश, चन्द्र, सूर्य, तारागण, वृक्ष, वनस्पति और सारी सृष्टिको मंगलमय बना दें। इसी श्रमदान के सहारे हम समाज में समानता, सामर्थ्य, समृद्धि, सफाई, शुद्धि, बुद्धि, प्रेम, भक्ति और माधुर्य का निर्माण कर सकेंगे। हमारे ऋषिगण भी तो यही प्रार्थना करते हैं—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

परिशिष्ट—

छोटी खेती का एक सफल अनुभव

[श्री गोविन्द रेड्डी, सेवाग्राम-आश्रम]

सन् '३६ में पू० बापू ने सेवाग्राम को अपना निवास-स्थान बनाया। तभी से आवश्यक अन्नोत्पादन के लिए वहाँ खेती भी शुरू करवायी। जमीन शुरू में कनिष्ठ दर्जे की ही थी। काँस, मोथा आदि घासों से भरी हुई और पान-बसन (पनिहाई) थी। काँस आदि निकालकर, जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े बनाकर पानी की निकासी के वास्ते प्रबन्ध किया, तब पानबसन थोड़ा कम हुआ। अब जमीन दूसरे दर्जे की बन गयी है। वह काली और सिंचाई के लिए उतनी अनुकूल नहीं है, तो भी सिंचाई करते हैं। सिंचाई के वास्ते पक्की नाली बनायी है।

पू० बापू के बाद आश्रमवाले पू० विनोबाजी से मार्ग-दर्शन लिया करते हैं। विनोबाजी बार-बार कहा करते हैं कि अब आश्रम पैसे के आधार पर नहीं चलना चाहिए। यह बात हम लोग तुरन्त अमल में ला नहीं सके। आखिर ३०-१-'५२ से आश्रम ने तय किया कि वह अपने श्रम पर और फिर भी जरूरत पड़े तो समाज से मिलनेवाले श्रमदान पर ही चलेगा। आश्रम के पास तब ४२ एकड़ जमीन, ६ बैल, ६ गायें थीं। अधिकतर काम नौकरों से ही करा लेते थे। खेती घाटे में तो नहीं रहती थी, फिर भी जैसी होनी चाहिए, वैसी नहीं होती थी। जमीन के अन्दर भरी हुई प्रचंड शक्ति खेती के विस्तार के कारण प्रकट नहीं कर पाते थे। जब इस बात का भान हुआ, तो बड़ी खेती के बजाय खुद जितनी खेती कर सकें, उतनी ही रखने की बात सोची। मई, १९५२ में ढाई एकड़ रखकर बाकी पाँच साल के वास्ते चरखा-संघ को दे दी। चंद महीनों के अनुभव से यह पाया कि बिना अपने बैल के सिंचाई करना असुविधाप्रद है। एक जोड़ी बैल रखने की बात सोची। एक जोड़ी के लिए ढाई एकड़ जमीन कम होती है, इसलिए और ढाई एकड़ जमीन ली। एक जोड़ी बैल के साथ एक गाय भी रखी।

पहले साल ढाई एकड़ में से एक एकड़ में बैल से और डेढ़ एकड़ में हाथ से खेती की। डेढ़ एकड़ में आधा एकड़ सिंचाई बैल से करायी। एक एकड़ में ज्वारी और बाकी जमीन में अन्य अनाज, सब्जी, फल, गन्ना आदि थे। डेढ़ एकड़ में १५ प्लाट बनाये थे। पूरे एक साल में ६०२५ घंटे आदमी के और ४८१$\frac{3}{4}$ घंटे एक जोड़ी बैल के लगे। कभी-कभी निराई आदि काम पूरा करने की जरूरत पड़ती थी, तब बाहर के मजदूरों को भी लगाया। इस तरह ८०० घंटे मजदूरों से लिये। ये घंटे ऊपर के हिसाब में आ गये हैं।

कुल पैदावार पौंडों में इस प्रकार हुई : ज्वारी २२३२, गेहूँ २८७½, धान २४०, दाल ३५३½, तिलहन १६०, गुड़ ६४०, भाजी ६४००, फल २५६०, कपास २४२। रुपयों में कुल आय १२७२ रु० ३ आ० १ पा० की हुई, जिसमें से खेती के लिए खाद, बीज, औषधि और बैल-जोड़ी के किराये के ३९९ रु० तथा ५ आदमियों के धान्य आदि के सिवा अन्य खर्च ७२४ रु० ६ आ० निकाल देने पर आखिरी बचत १४८ रु० १३ आ० १ पा० रही।

योजना का दूसरा वर्ष

सन् १९५३ में पाँच एकड़ की काश्त की गयी, जिसमें मनुष्यों के ११,४०५ और बैलों के १,४९६ घंटे लगे। काश्त की कुल सोलह प्रक्रियाएँ होती हैं। प्रत्येक प्रक्रिया में लगे घंटों की तालिका दी जा रही है।

स्पष्ट है कि बैल की अपेक्षा आदमियों के घंटे जमीन की तैयारी, बोआई, निराई आदि में अधिक लगे। इसका कारण यह है कि कई बार हाथ से जुताई, बौनी और निराई की गयी। हाथ-औजार से गुड़ाई करने से भी आदमी के अधिक घंटे लगे।

प्रक्रियाओं में लगा समय

प्रक्रिया का नाम	आदमी के घंटे	बैल-जोड़ी के घंटे
ज़मीन जुताई तैयारी	११३४	६६५
बोआई	८४१	८७
सिंचाई	८२९	४२९
निराई	१०५१	—
गुड़ाई	४२५	१७
खाद ढुलाई-फैलाव	४४२	३५
रखवा,ली	११०	—
सार-सँभाल	२८४	—
कटाई	२,५४६	—
गाय-बैल की सेवा	१,७१२	—
कोठार	१५८	—
निरीक्षण	१३६	—
कंपोस्ट	४५१	५८
औजार-मरम्मत	२०५	—

प्रक्रिया का नाम	आदमी के घंटे	बैल-जोड़ी के घंटे
सन् १९५४,७५ की जमीन की तैयारी	४३५	११७
अन्य	६४६	८८
कुल	११,४०५	१,४९६

खाने-पीने की कोई भी चीज बाहर से न खरीदनी पड़े, इस स्वावलंबी दृष्टि से पाँच एकड़ जमीन में अधिक से अधिक जीवनोपयोगी फसलें पैदा की गयीं। तालिका इस प्रकार है :

पैदावार

फसल	मन–सेर	रु० आ०
अनाज	५४–१०	९७८– ८
कपास	२–३०	८३– ०
तिलहन	१५–३०	३५६– ०
गुड़	६– ०	१२०– ०
गन्ना	—	३०९– ०
केले	—	९८– ८
फल	४०– ०	३००– ०
सब्जी	१०६– ०	७९५– ०
मसाले	१– ५	७३– ८
दूध	९२–३०	६२५– ०
कुल कीमत		३७३८– ८

हमारे प्रयोग में इस वर्ष दो कठिनाइयाँ भी रहीं।

१. सन् '५३ में गरमी ११८ डिग्री तक पहुँच गयी थी। इस कारण केला, पपीता, आम आदि की फसल को बहुत नुकसान हुआ।

२. सन् '५३ में वर्षा ३३·६५ इंच हुई। अतः यहाँ की जमीन मशहूर पनिहाई जमीन होने से ज्वारी की फसल मर गयी। ऐसी जमीन के लिए ज्यादा-से-ज्यादा ३० इंच वर्षा पर्याप्त होती है।

परिणाम

१. पाँच एकड़ में जो पैदावार हुई, वह संतुलित आहार तथा प्रति व्यक्ति २५०० क्यालोरी के अनुपात से सात व्यक्तियों के लिए पर्याप्त है।

२. प्रति दिन छह घंटे के हिसाब से पाँच आदमियों ने काम किया है। सात व्यक्तियों को संतुलित आहार मिला है। एक कुटुंब में लगातार काम करनेवाले पाँच व्यक्तियों का मिलना कठिन होता है। ऐसी हालत में छोटी खेती द्वारा एक कुटुंब का संतुलित आहार से जीवन-निर्वाह करना हो, तो काश्त के ढंग को बदलना होगा। बदलने का अर्थ है, दो एकड़ की काश्त में एक परिवार का जीवन-निर्वाह हो। दो एकड़ में छह हजार घंटे श्रम करना होगा। काश्त के लिए छह घंटे मेहनत इसलिए मानी गयी कि कपड़े के लिए कताई तथा पठन-पाठन के लिए भी समय निकालना होता है।

३. काश्त की सभी प्रक्रियाएँ ठीक-ठीक अनुपात में होनी चाहिए, नहीं तो बहुत नुकसान की संभावना रहती है।

४. कृषि-शिक्षण के स्कूल-कॉलेजों में ऐसी व्यवस्था हो कि मौसम के समय छुट्टी रहे और विद्यार्थी किसानों की मदद करें।

५. छोटी खेती में बैल का खर्च नहीं पुसाता। उसके लिए पर्याप्त चारा भी नहीं मिल पाता। सिचाई की व्यवस्था हो, तो बैल को काम तो मिलेगा, पर चारा पाना कठिन ही है। अतः बैलों का उपयोग सहकारी ढंग से हो।

परिश्रम-निष्ठा का असर

परिश्रम से वंचित रहने से क्या असर होता है, उसकी अपनी ही एक मिसाल देता हूँ।

१९४२ से १९५० के दरमियान जेल और आश्रम में शरीर-श्रम से मैं वंचित रहा, तो एक फर्लांग चलना, एक बाल्टी पानी उठाना तक मुश्किल हो गया था। उसी अवस्था में भगवान् बुद्ध का एक वचन पढ़ा, जो बीमार शिष्य को उन्होंने बताया था : "बीमारी से मुक्ति पाना हो, तो ४०० या ५०० मील पैदल तीर्थ-यात्रा करो या फिर ४०० या ५०० जानवरों को पानी पीने के लिए अकेले ही तालाब खोदो।" इन दोनों के बारे में मैंने बहुत सोचा और १९५० में किसीको न कहते हुए चुपके से पैदल-यात्रा के लिए आश्रम से बाहर निकला। छह माह में १५०० मील घूमा, तब इतनी शक्ति आ गयी थी कि एक दिन में ४० मील तक घूम सका। उसके बाद आश्रम में वापस आया और खेती का काम शुरू किया। भगवान् बुद्ध के दूसरे वचन का, याने खोदने का महत्त्व भी रोजमर्रा देखता हूँ। एक दिन शरीर-श्रम न हो तो बेचैनी-सी होती है।

"यदि सब अपनी रोटी के लिए खुद मेहनत करें, तो ऊँच-नीच का भेद दूर हो जाय। और फिर जो धनी वर्ग रह जायगा, वह अपने को मालिक न मानकर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यत: केवल लोक-सेवा के लिए करेगा। जिसे अहिंसा का पालन करना है, उसके लिए तो 'कायिक श्रम' रामबाण हो जाता है। यह श्रम वास्तव में देखा जाय तो खेती ही है। पर आज की जो स्थिति है, उसमें सब उसे नहीं कर सकते। इसलिए खेती का आदर्श ध्यान में रख कर आदमी एवज में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भंगी तो होना ही चाहिए।"

—गांधीजी

मूल्य
चार आना